कठोपनिषद्

(प्रथमोऽध्यायः शाङ्करभाष्यसमेतः)

व्याख्याकार
डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र
भूतपूर्व कुलपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

अक्षयवट प्रकाशन

इलाहाबाद

☐ **प्रकाशन के अन्य महत्त्वपूर्ण पाठ्य-ग्रन्थ**

❀ किरातार्जुनीयम् : प्रथम सर्ग
—**डॉ० राजेन्द्र मिश्र** ☐ ७.५०/-

❀ छन्दोऽलङ्कारसौरभम्
—**डॉ० राजेन्द्र मिश्र** ☐ ५.५०/-

❀ शिशुपालवधम् : प्रथम सर्ग
—**डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र** ☐ ४.५०/-

❀ शिशुपालवधम् : द्वितीय सर्ग
—**डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र** ☐ ४.५०/-

❀ साँख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा
—**डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र** ☐ १८/-

❀ संस्कृत-निवन्ध-मन्दाकिनी
—**डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र** ☐ १०/-

❀ कादम्वरी-कथामुखम्
—**डॉ० राजेन्द्र मिश्र** ☐ १३.५०/-

☐ **मूल्य** ❀ विद्यार्थी संस्करण : पाँच रूपया पचास पैसा
❀ पुस्तकालय संस्करण : दस रूपया

☐ **प्रकाशन वर्ष** ❀ प्रथम सस्करण : अक्तूबर १९८३

☐ **प्रकाशक** ❀ अक्षयवट प्रकाशन, २६ बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद
☐ **मुद्रक** ❀ शुभचिन्तक प्रेस, ३१३ वस्की खुर्द, दारागंज, इलाहाबाद

प्राक्कथन

उपनिषदें भारतीय वाङ्मय के महार्घ रत्न हैं। सारे वैदिक वाङ्मय का ज्ञानकाण्ड हैं ये उपनिषदें। सर्वोच्च आध्यात्मिक ज्ञान का प्राकट्य इनमें हुआ है। इसीसे ये 'वेदान्त'—वेद अर्थात् ज्ञान का अन्त अर्थात् पराकाष्ठा—कही जाती है। 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' कह कर भगवान् श्रीकृष्ण ने भी आत्मज्ञान को सर्वोच्च ज्ञान कहा है। ऐसे ज्ञान से विमुख भारतीय सच्चा भारतीय नहीं कहा जा सकता। इसी कारण इन उपनिषदों का अध्ययनाध्यापन नितान्त स्पृहणीय है। विश्वविद्यालयों की स्नातक एव परास्नातक परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में तो इन्हें स्थान मिलना ही चाहिये, उससे पूर्व की हाईस्कूल, इण्टर परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में भी इनके सरल एवं उपदेशप्रद मन्त्रो का सङ्कलन निर्धारित हो तो बहुत अच्छा। इससे चरित्र-गठन में सहायता मिलेगी उन्हें।

इसी दृष्टि से अनेक भारतीय विश्वविद्यालयो ने अपनी स्नातक कक्षाओ के पाठ्यक्रम में कोई न कोई उपनिषद् या उसका कुछ अंश अवश्य ही रखा है। कठोपनिषद् स्नातक कक्षाओं के लिये सम्भवतः सर्वाधिक उपयुक्त है अपनी सरल-सुबोध आख्यानात्मक संवादपरक शैली के कारण। फिर भी यत्र-तत्र वैदिक-भाषा-सम्बन्धी दुरूहता इसमें भी मिलती ही है, विशेषतः शब्दों, और भावों में। इसे दूर करने के विचार से कई हिन्दी अनुवाद हैं जिनमें गीता प्रेस का सर्वोत्तम है। परन्तु उसमें शब्दों की व्युत्पत्ति इत्यादि के न होने से छात्र मूल के शब्दों से अनुवाद का ठीक-ठीक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाते। फलतः वे अनुवाद को रट लेते है।

प्रस्तुत संस्करण इसी कठिनाई को दूर करने के विचार से अनुवाद, व्याख्या एवं टिप्पणी के साथ प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है, यह अपने उद्देश्य में सफल होगा।

शारदीयनवरात्र
वि० सं० २०४०

अवतरणिका

वैदिक वाङ्मय

वेद भारतवर्ष के आर्ष वाङ्मय की सर्वाधिक मूल्यवान् ज्ञानराशि है, और उपनिषद् उस 'वेद' का सर्वोच्च ज्ञानकाण्ड है, वेदान्त है, वैदिक वाङ्मय की सर्वोत्कृष्ट परिणति है। यह 'वेद' क्या है? कात्यायन एवं आपस्तम्ब ने 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' कहा है जिसका सामान्य अर्थ यही है कि मन्त्र अर्थात् मन्त्रों के सङ्ग्रहभूत संहिता-ग्रन्थ एवं ब्राह्मण-ग्रन्थ वेद कहे जाते है। जैसा आगे के विवेचन से स्पष्ट होगा, ब्राह्मणग्रन्थों से ही सम्बद्ध आरण्यक-ग्रन्थ हैं और आरण्यकों से सम्बद्ध-उपनिषदें है। अतः 'ब्राह्मण' से इन दोनों का भी ग्रहण हो जाने से संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्—इन चारों का सामूहिक एक नाम 'वेद' है। इस प्रकार प्रत्येक वेद की अपनी संहिता, अपने ब्राह्मण-अपने आरण्यक और अपनी उपनिषदें होती हैं। उदाहरणार्थ 'ऋग्वेद' से ऋक्-संहिता, ऋक् ब्राह्मण, ऋक-आरण्यक तथा ऋक्-उपनिषदें ग्राह्य हैं। इसी प्रकार यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के विषय में भी जानना चाहिये।

वैदिक संहिताओं में सङ्कलित मन्त्रों का यज्ञानुष्ठान में विनियोग होता है। इनका विनियोग करने वाले पुरोहित क्रमशः होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा कहलाते हैं। यज्ञ में प्रयोग के अनुसार, 'होता' पुरोहित देवों को यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए ऋचाओं के द्वारा उनकी स्तुति करता हुआ उन्हें निमन्त्रित करता है। 'अध्वर्यु' पुरोहित आहुति देने में यजुर्वेद का प्रयोग करता है। 'उद्गाता' पुरोहित देवों के प्रसन्नतार्थ मन्त्रों का गान प्रस्तुत करने में सामवेद का प्रयोग करता है। 'ब्रह्मा' पुरोहित यज्ञों में होने वाले विघ्नों को दूर करने तथा तदङ्ग-भूत शान्ति-पुष्टि आदि कर्मों में अथर्ववेद का प्रयोग करता है।

ऋग्वेद के मन्त्रों को 'ऋक्' कहा जाता है—'ऋचां वेदः ऋग्वेदः'। इन ऋचाओं का प्रयोग यज्ञों में देवों का आह्वान करने के लिये किया जाता था। इन देवों के स्वरूप के सम्बन्ध में दो विचार-धारायें प्रमुख हैं, एक तो पाश्चात्य विचारकों एवं उनके अनुयायियों की, जो विकासवाद के नाम से जानी जाती है; और दूसरी पौरस्त्य विद्वानों एवं व्याख्याताओं की जो देवत्व को विकसित नहीं मानते। पाश्चात्य विद्वान् विकासवाद के आधार पर यह मत प्रकट करते है कि अपने चारों ओर अहर्निश होने वाली प्राकृतिक घटनाओं से चकित-चमत्कृत आदिम-युगीन सरल-

स्वभाव मानव ने इन्हे प्रेरित नियमित करनेवाले जिन अतिमानवीय तत्वो की कल्पना की, वे ही 'देव' कहलाये। इन नियामक या प्रेरक शक्तियों से सुखप्राप्ति एवं आत्मरक्षा के लिये स्तुतिपूर्वक प्रार्थना करना एवं उन्हे उपहार देना उचित समझा गया। यही 'यज्ञ' कहलाया। यह शब्द देवपूजासङ्गतिकरणदानार्थक भ्वादिगणी 'यज्' धातु से नङ् प्रत्यय जोड़ने से बनता है। यह सारी चर्चा 'बहुदेव वाद' से सम्बद्ध है। अवान्तर काल में इन्हीं अनेक देवो में से कही पुरुष, कहीं प्रजापति, कहीं अदिति, कही हिरण्यागर्भ और कहीं अन्य किसी एक ही देवता को प्रधान या अधिपति कहा गया तथा शेष को उसके अधीन। यह वेदों का एकेश्वरवाद था। उसके भी बाद सर्वेश्वरवाद की कल्पना हुई। ऋग्वेद (१०८९) में अदिति को सब कुछ कहा गया है—"अदितिरिदितिरन्तरिक्षम् अदितिर्माता स पिता स पुत्रो त्रिश्वेदेवा अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्।" (ऋ० १०।८९)। इसीप्रकार पुरुषसूक्त (ऋ० १०९०) की 'पुरुष एवेदं सर्व यद् भूतं यच्च भव्यम्" इत्यादि पंक्तियों में 'पुरुष' को भूत, भविष्य सभी कुछ कह दिया गया है। यही भावना 'सर्वेश्वरवाद' के नाम से बोधित हुई।

पाश्चात्त्य विचारको के मत में वैदिक देवतावाद का यही संक्षिप्त विकास-क्रम है। किन्तु वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट पता चलता है कि देवत्व की कल्पना वेदों में इतनी भौतिक नहीं है जितनी पाश्चात्त्य वैदिक विद्वान् बतलाते है।

आचार्य ने निरुक्त के देवतकाण्ड (सप्तम अध्याय में) में देवता-तत्त्व का विवेचन बड़े स्पष्ट शब्दों में किया है। इस जगत् के मूल में एक ही तत्त्व, एक ही महत्त्वशालिनी शक्ति विद्यमान है जो ईश्वर कहलाती है। वह एक और अद्वितीय है। उसी एक देवता की अनेक रूपों में स्तुति की जाती है—"माहाभाग्याद् देवताया एक एवात्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।" (निरुक्त ७.४.८.९)। बृहद्देवता (१.६१-६५) भी यास्क के इस कथन का समर्थन करती है। परन्तु इस विषय मे पिछले साहित्य के निरीक्षण की अपेक्षा नहीं। ऋग्वेद के अध्ययन से ही देवता तत्त्व का रहस्य भली-भाँति समझा जा सकता है। देवता-गण को ऋग्वेद में 'असुर' कहा गया है। 'असु' का अर्थ है प्राण, उससे सम्पन्न 'असुर' हुआ—असून् प्राणशक्ति राति गृह्णातीति असुरः। इस प्रकार देवता-गण अविनश्वर शक्ति-मात्र हैं। वे आतस्थिवांसः, अनन्तासः, अजिरासः तथा विश्वतस्परि (ऋक्-संहिता ५।४७।२) हैं। एक पूरे सूक्त (ऋक्संहिता ३।५५) में देवताओं का असुरत्व एक ही माना गया है—महद् देवानामसुरत्वमेकम्; अर्थात् समस्त देवों का महत् सामर्थ्य एक ही है।

ऋग्वेद में देवताओं के द्विविध रूप का वर्णन मिलता है—एक तो स्थूल दृश्य रूप, दूसरा सूक्ष्म अदृश्य रूप। इसे क्रमशः आधिभौतिक और आधिदैविक कहते हैं। इनके अतिरिक्त एक तृतीय—आध्यात्मिक—रूप की चर्चा भी किन्हीं-किन्हीं मन्त्रों में मिलती है। उदाहरणार्थ, सूर्य के त्रिविध रूपों—उत्, उत्तर तथा उत्तम—का वर्णन एक ही मन्त्र (ऋ० १।२०।१०) में मिलता है। सूर्य की उस ज्योति का नाम 'उत्' है जो इस भुवन का अन्धकार दूर करती है। यह सूर्य का आधिभौतिक रूप है। इस ज्योतिर्मण्डल का अभिमानी देव, जो देवों के मध्य देव रूप से निवास करता है, 'उत्तर' नामवाला है। यह उसका आधिदैविक रूप है। इन दोनों से बढ़कर विशिष्ट ज्योति की संज्ञा 'उत्तम' है। यह सूर्य का आध्यात्मिक रूप है जो सर्वव्यापी एवं नित्य है। शुक्ल यजुर्वेद मे भी इसे सूर्य का कल्याणतम रूप कहा है :—"पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्रजापत्य व्यूह रश्मीन्, समूह। तेजो, यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि, योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।।" (शुक्ल यजु० ४०-१६)। यह आदित्यमण्डलस्थ 'पुरुष' ही आदित्य या सूर्य देव का नियमन करने के कारण बृहदारण्यक ३.७ (अन्तर्यामि-ब्राह्मण) में अन्तर्यामीरूप से वर्णित है :—"य आदित्ये तिष्ठन् आदित्यादन्तरो, यमादित्यो न वेद, यस्यादित्यः शरीरं, य आदित्यमन्तरो यमयति, एष ते आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृहद १०।३।७-९)।। सूर्य के इसी अन्तर्यामी परमात्मतत्त्व की दृष्टि से ऋक्संहिता के एक मन्त्र में उसे स्थावर-जङ्गमात्मक त्रिभुवन की आत्मा कहा गया है :—"चित्रं देवानामुदगादनीकं, चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आ प्रा द्यावापृथिव्यन्तरिक्षं, सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।।" ऋक्०—१.११५.१ इस प्रकार यह सुस्थापित हो जाता है कि ऋग्वेद इस विश्व के सर्वाभिभावी, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सर्व-नियन्ता, एक परमात्मतत्त्व से आदिम काल से ही परिचित है, तथा वह विभिन्न देवताओं को उसी की नाना शक्तियों का प्रतिनिधि मानता है :—'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'। इससे पाश्चात्यों का विकासवाद अमान्य ठहरता है।

इस एक परमा देवता की विभिन्न संज्ञायें वेद में मिलती हैं। ऋग्वेद में प्रजापति, हिरण्यगर्भ, पुरुष, अदिति आदि, तथा अथर्ववेद में स्कम्भ, उच्छिष्ट आदि। 'स्कम्भ' का अर्थ आधार है। इसी से हिन्दी भाषा का खम्भ या खम्भा शब्द निकला है जिसे अँग्रेजी भाषा में Pillar कहते हैं। ब्रह्म या आत्मा के लिये इसका प्रयोग इसे समस्त चराचरात्मक विश्व के आधार रूप में प्रतिष्ठित करता है। इसी प्रकार 'उच्छिष्ट' शब्द भी ब्रह्म का वाचक है—'उत् ऊर्ध्वं निषेधानन्तरं शिष्टम्' अर्थात् दृश्य प्रपञ्च के निषेध करने पर जो अवशिष्ट रहता है, वही उच्छिष्ट है। ब्रह्म के इसी स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये बृहदारण्यक उसे 'नेति नेति' द्वारा वर्णित करती

है :—'अथात आदेशो नेति नेतीति' (बृहदा० २. ३. ६); 'स एष नेति नेतीत्यात्मा' (बृहदा० ४. ५-१५)। अथर्वसंहिता ११-९-१ में इसका वर्णन इस प्रकार है :— "उच्छिष्टे नामरूपं च, उच्छिष्टे लोक आहितः। उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितः ॥" आगे आने वाली उपनिषदो के ब्रह्म तत्त्व तथा ब्रह्मात्मैक्यवाद की यही पूर्व पीठिका है। ऋग्वेद का नासदीयसूक्त (१०, १२९) ऋग्वेदीय अद्वैत-भावना को जिस रूप मे प्रकट करता है, उस रूप मे अन्य कोई भी सूक्त नहीं :—"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद् रजो नो व्योमा परो यत्। किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्, अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥ न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि, न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेक, तस्माद्धान्यन्न परं किञ्चनास॥" उस परम तत्त्व के निर्धारण मे असमर्थ होकर वैदिक ऋषियो ने उसके लिये 'तत्' (तदेकम्), सत् आदि नपुं० शब्दो का प्रयोग किया है। वह एक होकर भी अनेक नामो से पुकारा जाता है :— 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥" (ऋक्संहिता १-१६४) ॥

जैसा पहले कहा जा चुका है, वैदिक संहिताओं मे सङ्गृहीत मन्त्रो का होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा नामक पुरोहित यज्ञो मे विनियोग करते थे। इन मन्त्रों के द्वारा यज्ञों मे विभिन्न देवताओ को पुरोडाश या हवि प्रदान किया जाता था। 'ब्रह्मन्' शब्द मन्त्र का वाचक है, इसी ब्रह्मन् के विनियोगादि का व्याख्यान करने वाले ग्रन्थ 'ब्राह्मण' कहलाये। यह शब्द ब्रह्मन् से अण् प्रत्यय लगा कर बनता है और इसका अथ होता है ब्रह्म अर्थात् मन्त्र के विषय में लिखे गये ग्रन्थ। 'ब्रह्मन्' शब्द बृह् धातु से बना है और इसका एक अर्थ यज्ञ भी होता है। यज्ञ अर्थात् वैदिक कर्म से सम्बन्ध होने से भी ये 'ब्राह्मण' कहे गये। दूसरे शब्दों में यह वेद का कर्मकाण्ड है, जैसे संहिता मन्त्रकाण्ड है।

इन ब्राह्मण-ग्रन्थो के बाद आरण्यकों का निर्माण हुआ। 'अरण्यान्मनुष्ये' (अष्टा० ४।२।१२९) सूत्र से अरण्य से वुञ् प्रत्यय लगने पर 'आरण्यक' शब्द बनता है। इसका अर्थ होता है अरण्य या वन मे जाकर रहने वाला मनुष्य-वानप्रस्थ। इनके कर्तव्यो एव धर्मो का वर्णन इन ग्रन्थों में किया गया है, इसी से ये 'आरण्यक' कहलाये। इन आरण्यकों में प्रतिदिन किये जाने वाले पञ्च महायज्ञों (ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, नृयज्ञ, पितृयज्ञ तथा भूतयज्ञ या वैश्वबलि) के अतिरिक्त अनेक प्रकार की उपासनाओं का वर्णन है, इसी से इन्हें वेद का उपासना-काण्ड कहा जाता है। वैदिक यज्ञों का निष्काम भाव से भगवत्प्रीत्यर्थ अनुष्ठान करने से जितनी चित्त-शुद्धि होती है, उससे कहीं अधिक इन उपासनाओं से होती है। तृष्णा, काम, लोभ, मोह, द्वेष

आदि मलों से रहित होकर चित्त ऐकाग्र्योन्मुख—समाहित—होने लगता है क्योंकि ये मल ही चित्त को विक्षिप्त या चञ्चल बनाते रहते है, एवं समाहित चित्त ही आत्म-विचार के योग्य होता है, आत्म-स्वरूप के विचार से ही निदिध्यासन द्वारा उसका साक्षात्कार या अपरोक्ष ज्ञान होता है, इसी से ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है। यही सब वर्णन एवं विचार का विषय है उपनिषदों में। इस प्रकार सुस्पष्ट है कि वैदिक संहिताओं, विशेषतः उनके उत्तर कालीन सूक्तों एवं उपासना-परक आरण्यकों, दोनों के ही द्वारा औपनिषद ज्ञान-साधना की सुदृढ़ पृष्ठभूमि ज्ञान-साधक के लिये तैयार की जाती है जिसमें स्थित होकर ही साधक साधना परी कर पाता है और जीवन के परम पुरुषार्थ या लक्ष्य 'मोक्ष' को प्राप्त करने में सफल होता है।

●

कठोपनिषद्

पहले कहा जा चुका है कि प्रत्येक वैदिक शाखा की पृथक्-पृथक् संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् है। ऋग्वेद की २१ शाखाओं[१] में से आज केवल शाकल शाखा की संहिता उपलब्ध है। इसी प्रकार यजुर्वेद की १०१ शाखाओं[२] में से केवल छः ही उपलब्ध हैं। 'सहस्रवर्मा सामवेदः'[३] की केवल तीन शाखायें उपलब्ध हैं। इसी प्रकार 'नवधाऽथर्वणो वेदः'[४] की केवल दो ही शाखाये उपलब्ध हैं। इससे लगता है कि वेदों की अनेक शाखाओं की ही तरह उन शाखाओं से सम्बद्ध उपनिषदें भी लुप्त हो गई हैं। तथापि मुक्तिकोपनिषद् में १०८ उपनिषदों की सूची उपलब्ध होती है। इनमें १० ऋग्वेद से, ३२ कृष्ण-यजुर्वेद से, १९ शुक्ल यजुर्वेद से, १६ सामवेद से, तथा ३१ अथर्ववेद से सम्बद्ध बताई गई हैं। ये १०८ उपनिषदें मुक्तिकोपनिषद् में सारभूत कहीं गई हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इनकी संख्या मुक्तिकोपनिषद् के समय में १०८ से कहीं अधिक रही होगी।

---

१. मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार; चरण-व्यूह के अनुसार शाकल, वाष्कल आश्वलायन, शाङ्खायन तथा माण्डूकायन, ये पांच ही शाखायें ऋग्वेद की थीं।

२. एकशतमध्वर्युशाखा :—पतञ्जलिकृत महाभाष्य, आह्निक १।

३. वही।

४. वही।

यों, उपनिषदों की सख्या वर्तमान काल में २०० से भी अधिक है जिनमें अनेक, काल में अत्यन्त अर्वाचीन तथा प्रतिपाद्य विषय में साम्प्रदायिक हैं। १०८ उपनिषदों में भी दस उपनिषदे प्रमुख मानी जाती हैं क्योंकि इन्हीं पर लिखे गये शाङ्कर-भाष्य जगद्गुरु आद्य शङ्कराचार्य के माने जाते है। वे ये हैं:—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक। इनके अतिरिक्त श्वेताश्वतर, नृसिहतापनी, कौषीतकी एवं मैत्रायणी भी प्राचीन एव प्रमुख उपनिषदे मानी जाती है। इन्हें अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में आद्य शङ्कराचार्य ने वेदान्त-सिद्धान्तों के समर्थन में अनेकशः उद्धृत किया है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि आद्य शङ्कराचार्य इन चारों को भी पूर्वोक्त दस उपनिषदों की तरह ही प्रामाणिक मानते थे। नृसिह-तापनी पर उपलब्ध भाष्य भी आद्य-शङ्कर-कृत माना जाता है। कुछ विद्वान् श्वेताश्वतरभाष्य को भी शंकर-कृत मानते हैं। यजुर्वेद की पूर्वोक्त छः शाखाओं में से चार तो कृष्णयजुर्वेद की, तथा दो शुक्लयजुर्वेद की हैं। शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन और कण्व शाखाओं से सम्बद्ध माध्यन्दिनसंहिता एवं काण्वसंहिता उपलब्ध होती है। कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ एवं कपिष्ठल, ये चार शाखायें हैं। इनमें कठशाखा से सम्बद्ध कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषद् ही कठोनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें यज्ञ-विद्या या अग्निविद्या का संक्षेप में सांकेतिक वर्णन ही प्राप्त होता है। इसमें 'वेदी के लिये अपेक्षित ईटों की संख्या, आकार एवं चयन-प्रकार आदि का वर्णन यम ने नचिकेता के प्रति कर दिया'—इतना ही कथित है। क्या है वह संख्या, प्रकार तथा आकार, यह इस उपनिषद् में नहीं वर्णित है। इसका कारण सम्भवतः यही है कि कर्मकाण्ड स्वर्ग-कामियों के लिये उपयोगी होने पर भी ज्ञानकाण्डात्मक उपनिषद् का मुख्य वर्ण्य विषय न होकर गौण विषय होता है। मुख्य वर्ण्य विषय तो आत्म-ज्ञान है, अतः उसी का निरूपण इस उपनिषद् के प्रथम अध्याय की द्वितीय-तृतीय वल्लियों एवं समूचे द्वितीय अध्याय (की ३ वल्लियों) में किया गया है। आत्मज्ञान या ब्रह्मविद्या का यह निरूपण यम और नचिकेता के बीच हुये संवाद के माध्यम से बड़े ही विशद ढंग से किया गया है। इसकी वर्णन-शैली आख्यानपरक होने से बड़ी ही सरल और रुचिकर है। इसमें अन्य उपनिषदों की भाँति जहाँ आत्मज्ञान का गम्भीर विवेचन है, वहाँ नचिकेता का चरित्र पाठकों के समक्ष एक अनुपम आदर्श भी उपस्थित करता है। जब वे देखते हैं कि पिताजी जीर्ण-शीर्ण, गलित-पलित गायें ब्राह्मणों को दान कर रहे हैं और दूध देने वाली पुष्ट गायें मेरे लिये रख छोडी हैं तो बाल्यावस्था होने पर भी उनकी पितृ-भक्ति उन्हें चुप नही रहने देती और बाल-सुलभ चापल्य से वे पिता वाजश्रवस से पूँछ बैठते हैं—'तत ! कस्मै मां दास्यसि ?' वस्तुतः उनका यह प्रश्न ठीक ही था क्योंकि विश्वजित्

याग में सर्वस्व का दान कर दिया जाता है और अपने तथा अपने कौटुम्बिकों के लिये कुछ भी नहीं रखा जाता। किन्तु नचिकेता के पिता ने उसके प्रति मोह के कारण याजक ब्राह्मणो को बूढी गायें देकर अच्छी पुष्ट गायें उसके निमित्त रख छोड़ी थीं। पिता की यह आसक्ति उन्हें नरक में गिराने वाली थी, उसमें पिता को बचाने का एक मात्र उपाय यही था कि जिसके प्रति मोह होने से पिता ने यह पाप किया, उसे भी दान मे दे दिया जाय, "न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी"।

अपने प्रश्न के उत्तर में पिता के मौन धारण करने पर नचिकेता के इसी तरह दुबारा-तिबारा पूँछने पर जब वाजश्रवस ने खीझकर कहा कि 'मैं तुम्हे मृत्यु को देता हूँ', तो उन्होंने यह जानते हुये भी कि पिताजी ने मेरा हृद्गत भाव विना समझे ही क्रोध-वश ऐसा कह दिया है, उनके कथन की उपेक्षा नहीं की क्योकि ऐसा करने से उनके पिता को असत्य-भाषण का अतिरिक्त पाप लगता। पिता को एक पाप से बचाने के प्रयास मे नचिकेता न एक और पाप में निरत उन्हें फँसा देख कर उनके वचन को सत्य प्रमाणित करने के लिये मृत्यु के देवता यम के पास जाने का निश्चय कर लिया और पिता को समझा दिया कि पक जाने पर काट ली जाने वाली खेती की तरह मनुष्य का भी जीवन किञ्चित्कालिक है, ऐसे नश्वर जीवन के लिये मुँह से निकले वचन को असत्य होने देना बुद्धिमान् पुरुष का लक्षण नहीं है। तदनन्तर पिता से विदा लेकर जब नचिकेता यमलोक पहुँचा तो यमराज से उसकी भेंट नही हुई क्योकि उस समय वे अनुपस्थित थे। तीन दिन बाद यमराज वापस लौटे। तब तक नचिकेता ने अन्न-जल, कुछ भी नहीं ग्रहण किया था। जब यमराज को इस बात का पता चला तो वे बड़े दुःखी हुये। फिर नचिकेता के पास जाकर विनम्रता-पूर्वक तीन रातों के लिये तीन वर माँगने का प्रस्ताव रखा। नचिकेता ने प्रथम वर के रूप मे अपने खिन्न-क्षुब्ध पिता के सौमनस्य-मानसिक शान्ति—की याचना की। द्वितीय वर से स्वर्ग के साधनभूत अग्नि-विज्ञान (यज्ञ-विद्या) के ज्ञान की याचना की। तृतीय वर से निःश्रेयस या मोक्ष के साधन-भूत आत्मज्ञान की याचना की, आत्मा के स्वरूप को उद्घाटित करने की याचना की।

तीनों वरों तथा उनके विशिष्ट क्रम का रहस्य

नचिकेता ने यमराज से जो तीन वर मागे हैं, उनके क्रम में भी एक अद्भुत रहस्य है। उनका पहला वर था पितृ-परितोष। वे पिता के सत्य की रक्षा के लिए उनकी इच्छा के विरुद्ध यमलोक को चले आये थे। इससे उनके पिता स्वभावतः बहुत खिन्न थे। इसलिये उन्हें सबसे पहले यही आवश्यक जान पडा कि उन्हें शान्ति मिलनी चाहिये। यह नियम है कि यदि हमारे कारण किसी व्यक्ति को दुःख या

अशान्ति हो तो जब तक हम उसका दुःख निवृत्त न कर देंगे, तब तक हमें भी शान्ति नहीं मिल सकती। यह नियम मनुष्य-मात्र के लिये समान है; और यहाँ तो स्वयं उनके पूज्य पिता को ही दुःख हुआ था, इसलिये सबसे पहले उनकी शान्ति उन्हें अभीष्ट होनी ही चाहिये थी। यह पितृ-परितोष उनकी ऐहलौकिक शान्ति का कारण था। इसलिये सबसे पहले उन्होंने यही वर माँगा।

लौकिक शान्ति के पश्चात् मनुष्य को स्वभाव से ही पारलौकिक सुख की इच्छा होती है, यहाँ तक कि जब वह अधिक प्रबल हो जाती है तो वह ऐहिक सुख की भी परवाह नहीं करता। नचिकेता में इस इच्छा का मुख्य कारण लोक-कल्याण की भावना थी। उनका विचार था कि यज्ञ-विज्ञान के प्रचार हो जाने से अनेक लोग इसके द्वारा स्वर्गादि प्राप्त कर लेंगे एवं शोकातीत हो जायेंगे। जन्म-जरा-मृत्यु तथा अशनाया-पियासा से होने वाले दुःख स्वर्ग में नहीं है और यह स्वर्ग यज्ञ द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इसी से नचिकेता ने यज्ञ-प्राप्ति के साधन-भूत अग्नि का विज्ञान दूसरे वर से प्राप्त करना चाहा। अग्नि-विज्ञान को द्वितीय वर के रूप में प्राप्त करने की प्रार्थना नचिकेता ने इसलिये भी की कि यज्ञ करने से न केवल स्वर्ग की प्राप्ति होती है, अपितु निष्काम भाव से केवल लोक-कल्याणार्थ किये जाने पर उससे चित्त-शुद्धि भी होती है। विना चित्त-शुद्धि के आत्मस्वरूप का चिन्तन नहीं होता और विना आत्मचिन्तन के आत्म-साक्षात्कार नहीं होता।

किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वे स्वर्ग-सुख के इच्छुक थे। जिस प्रकार उनके पहले वर में पिता की शान्ति-कामना थी, उसी प्रकार इसमें मनुष्यमात्र की हित-चिन्ता थी। सबके हित में उनका हित था ही, किन्तु वे स्वयं स्वर्ग-सुख के लिये लालायित नही थे। यह बात उस समय स्पष्ट हो जाती है जब यमराज के—

"ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो! मरणं मानुप्राक्षीः॥" १।१।२५॥

कहने पर वे कहते हैं—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव॥
अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत् सांपराये महति ब्रूहि नस्तत् ।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ १।१।२६-२९ ॥

उपर्युक्त उद्धरणो से उनकी तीव्र जिज्ञासा और आत्मदर्शन की अनवरत पिपासा स्पष्ट प्रतीत होती है। इसी से प्रेरित होकर उन्होने तृतीय वर माँगा था। यमराज ने उनकी जिज्ञासा की परीक्षा के लिये उन्हें तरह-तरह के प्रलोभन दिये और बड़े-बड़े मनोमोहक सब्जबाग दिखलाये, परन्तु आत्मामृत के लिये लालायित नचिकेता ने उनपर कोई दृष्टि नहीं दी क्योकि वे खूब अच्छी तरह जानते थे कि सारे भोग-पदार्थ—लौकिक और पारलौकिक भी—अनित्य है, केवल आत्मा ही अजर, अमर, अविनाशी, नित्य पदार्थ है। इसीसे भोगों पर दृष्टि न डालते हुए उन्होने यही कहा—'वरस्तु मे वरणीयः स एव, नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते' इत्यादि।

इस प्रकार जब यमराज ने देखा कि उनमें नित्यानित्य का पूर्ण विवेक विद्यमान है, वे लौकिक और पारलौकिक भोगो से सर्वथा उदासीन हैं शमदमादि साधनों से सर्वथा सम्पन्न हैं और उनमें तीव्र मुमुक्षा की प्रच्छन्न अग्नि तेज़ी से धधक रही है तो उन्हें उनकी शान्ति के लिये ज्ञानामृत की वर्षा करनी पड़ी। नित्यानित्य-वस्तु-विवेक, इहामुत्रार्थफलभोग-विराग, शमदमादिषट्क-सम्पत्ति तथा मुमुक्षत्व—वेदान्त में ये ही चार ज्ञान-प्राप्ति के अन्तरङ्ग माने गये है, और साधन-चतुष्ट्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनसे सम्पन्न साधक ही आत्मज्ञान का सही पात्र है। इसी कारण से यमराज को उनके प्रति आत्मज्ञान का उपदेश करने के लिये विवश होना पड़ा। वही ज्ञानोपदेश आज भी कठोपनिषद् के रूप मे विद्यमान है। इससे विशुद्ध बोध का अंकुर उसी हृदय मे प्रस्फुटित हो सकता है जो नचिकेता के समान विवेक, वैराग्य, शम-दम-उपरति-तितिक्षा-समाधान-श्रद्धा रूप छः गुणो तथा मुमुक्षत्व—इन चार साधनों से सम्पन्न है। नचिकेता का यह पावन, उदात्त एव समुज्ज्वलचरित्र सर्वथा अनुकरणीय है।

आत्मा का स्वरूप

पिछले प्रकरण में तीसरे वर की चर्चा करते समय निःश्रेयस-प्राप्ति के साधन रूप में आत्म-ज्ञान का उल्लेख किया गया है। अब प्रश्न यह है कि उस आत्मा का स्वरूप किस प्रकार का है। जगत् के दृश्यमान सभी पदार्थ नश्वर है, अनित्य हैं। क्या मनुष्य भी इसी प्रकार अनित्य है, क्या उसके शरीरादि दृश्यमान रूप के नष्ट हो जाने पर कुछ भी नहीं बचता ? इसी के उत्तर में यमराज ने निष्कर्ष रूप से नचिकेता को यह बताया कि शरीर के नष्ट हो जाने पर भी वह नष्ट नहीं होता। यह नष्ट न होने वाला अनश्वर या नित्य तत्त्व मनुष्य का अपना वास्तविक रूप

है। यही आत्मा है। प्रश्न यह है कि जो जिज्ञासा नचिकेता को थी अपनी वास्तविकता के सम्बन्ध मे, क्या यही सर्व-साधारण मानव में सहज रूप से उदित होती है। उत्तर है 'नहीं'। फिर प्रश्न उठता है—ऐसा क्यों ? इसका उत्तर यह है कि सर्व-साधारण मनुष्य इच्छाओं की पूर्ति को ही सुख मानने के कारण यावज्जीवन तदर्थ साधन जुटाता रहता है, धन-जन-जायादि पदार्थों का संग्रह करता रहता है और एक दिन ऐसा भी आता है जब सारे सञ्चित पदार्थ धरे रह जाते है और सग्राहक डेरा कूच कर जाता है। ऐसी वस्तु-स्थिति समक्ष उपस्थित होने पर सब में न सही किन्तु हजार या लाख में थोड़ा भी विवेक रखने वाले किसी एक मनुष्य में इस विचार का उदय करती है कि जो रहेगा नहीं, उसके सञ्चय-संग्रह मे आजीवन निरत रहना, तदर्थ विकल-विह्वल रहना कौन सी बुद्धिमत्ता है ? मृत्यु आने पर भी जो रहे, नष्ट न हो, उसी का परिग्रह करना चाहिये और वही मूल्यवान् मानव-जीवन का लक्ष्य या पुरुषार्थ भी हो सकता है, नश्वर भोगपदार्थो का सञ्चय-सङ्ग्रह नहीं। फिर इस प्रकार के सद्विचार का उदय उस जिज्ञासा को जन्म देता है जो नचिकेता में उदित हुई और जिसे उसने यमराज के समक्ष इस रूप मे रखा कि मृत्यु के बाद मनुष्य की सत्ता किसी रूप में रहती है या नहीं। इसी जिज्ञासा के समाधान या उसकी शान्ति के प्रयास में स्व-रूप या आत्मा के ज्ञान का उदय होता है, जैसा कि कठोपनिषद् के आख्यान से स्पष्ट है।

थोड़ा पूर्व कहा जा चुका है कि नचिकेता के प्रति यमराज के उपदेश का निष्कर्ष यही है कि मनुष्य मृत्यु के बाद भी रहता है, शरीर से नहीं; स्वरूप से। 'आत्मा' शब्द स्वरूप का ही वाचक है। मनुष्य का यह स्वरूप, उसका आत्मा नित्य और अविनाशी है। जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु भी अवश्यम्भावी है। यदि मनुष्य का आत्मा मृत्यु से परे अविनाशी या नित्य तत्त्व है तो निस्सन्देह उसका जन्म भी नहीं होता, ऐसा मानना पड़ता है। यह अज-अविनाशी आत्मा यमराज के शब्दों में इस प्रकार वर्णित है :—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥१-२-१८॥
हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं, हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१-२-१९॥

फिर उसकी सर्व-व्यापकता, एवं अनित्य शरीर के भीतर रहने पर भी उसके अनित्यत्वादि धर्मो से अस्पृष्ट रहने के विषय में यम ने इस प्रकार कहा है :—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्योज्ञातुमर्हति ॥१-२-२१॥

अशरीरँ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्त विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ।। १-२-२२ ।।

यहाँ यह तथ्य अवधेय है कि इस द्वितीय प्रकार के वर्णन मे आत्मा के आपाततः विरोधी स्वरूप को यमराज ने नचिकेता के समक्ष प्रकट किया है। जो बैठा हुआ भी दूर तक जाता है, लेटा हुआ भी सर्वत्र पहुँचा हुआ है, जो हर्ष से युक्त भी है और रहित भी, जो शरीर में स्थित होकर भी उसके धर्मो से रहित है, अनित्यों में भी नित्य रूप से स्थित है, तथा जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और स्थूल से भी स्थूलतर है (अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्.... १।२।२०)। इस प्रकार के वर्णन से सम्भवतः यमराज नचिकेता के प्रति आत्मा की प्राप्ति की कठिनता का वर्णन करना चाहते हैं। वे बताना चाहते हैं कि सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम आत्मा की प्राप्ति सूक्ष्मतत्त्व को देखने की अभ्यस्त हुई सूक्ष्म बुद्धि से ही हो सकती है, सांसारिक पचड़ों-प्रपञ्चों में उलझी हुई स्थूल बुद्धि से नहीं। 'कस्तं मदामदं देव मदन्यो ज्ञातुमर्हति' में उन्होने इस तथ्य की ओर संकेत किया है और प्रथम अध्याय की तृतीय वल्ली में तो इसका कारण-सहित स्पष्ट कथन भी किया है :—

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ।।
महतः परमव्यक्तम् अव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ।।
एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।। १-३-१०-१२।।

प्रथम वल्ली के "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।।१-१-१२।।" मन्त्र में भी प्रकारान्तर से यम ने इसी तथ्य का कथन किया है। यहाँ आत्म-विषयक बुद्धि-योग (चित्त-समाधान) से उसकी प्राप्ति की बात कही है यम ने। आत्मा जैसे सूक्ष्मतम तत्त्व पर स्थूल बुद्धि या चित्त केन्द्रित हो ही नही सकता, उसे तो अभ्यास से ही धीरे-धीरे सूक्ष्मतम को देखने के योग्य बनाया जा सकता है। भगवान् भाष्यकार जगद्गुरु शंकराचार्य के शब्दों में इस अभ्यास का स्वरूप द्रष्टव्य है :—"विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य चेतसः आत्मनि समाधानम् अध्यात्मयोगस्तस्याधिगमस्तेन मत्वा देवमात्मानं धीरो हर्षशोकौ आत्मन उत्कर्षापकर्षयोरभावाज्जहाति ।"

बुद्धियोग—चित्त-समाधान—की अपेक्षा पर यमराज ने अनेकशः प्रकाश डाला है। द्वितीय अध्याय का आरम्भ ही उन्होंने इसी से किया है :—"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तमात् पराङ् पश्यति नात्मरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मान-मैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।।२-१-१" ।। इन्द्रियों का स्वभाव ही बाह्य विषयों को

ग्रहण करने का है और बुद्धि के लिये ये इन्द्रियाँ ही साधन ठहरी, तब इनके द्वारा उसे आन्तरिक—गुहाहित—अतश्च दुर्दर्श प्रत्यक् आत्मा का बोध या ज्ञान कैसे हो सकता है। कोई धीर साधक ही अमृतत्व-प्राप्ति की इच्छा से (योग का साधन करता हुआ कालान्तर में) उन्मीलित-नेत्र होने पर प्रत्यगात्मा का दर्शन कर पाता है। प्रथम अध्याय की सारी तृतीय वल्ली रथ-रूपक के माध्यम से इसी साधन-प्रक्रिया का उन्मीलन करती है।

रथ-रूपक

यह रथ-रूपक क्या है, इसको समझने की बड़ी अपेक्षा है आत्मसाक्षात्कार अर्थात् तत्त्व-दर्शन के लिये। मुख्यतः तो यह प्रथम अध्याय की तृतीय वल्ली के तृतीय एवं चतुर्थ मन्त्रों में दिया गया है। परन्तु एतत्सम्बद्ध विषय आगे के नवम मन्त्र तक चलता है। इसकी पृष्ठभूमि तो प्रस्तुत वल्ली के प्रथम मन्त्र में ही यमराज ने प्रस्तुत कर दी है। इसमें यह कहा गया है कि इस शरीर के भीतर बुद्धि-रूपी गुहा में स्थित परम प्रकृष्ट ब्रह्म-स्थान हार्दाकाश में छाया और आतप की तरह दो विलक्षण तत्त्व बैठे हुये है जिनमें से एक छाया की तरह मलिन संसारी जीवात्मा है जो अपने शुभाशुभ कर्मों का फल भोग रहा है, और दूसरा आतप की तरह देदीप्यमान असंसारी साक्षी परमात्मा है जो क्लेश-कर्मादि से रहित होने के कारण फल का भोक्ता नहीं है हाँ भोजयिता अर्थात् जीवों को स्वकर्म-फल-भोग के लिये प्रेरक जरूर है। इस प्रकार इस मन्त्र में जीवात्मा और परमात्मा या ब्रह्म, इन दो पृथक् पृथक् या विभिन्न तत्त्वों का कथन किया गया है। वस्तुतः तो उपनिषदें अनेकशः जीव को ब्रह्म से अभिन्न बताती हैं परन्तु संसारावस्था या अविद्यावस्था में उनमें भेद का भी प्रतिपादन करती हैं। ब्रह्म से वस्तुतः अभिन्न भी जीव अविद्या काम-कर्मादि के सम्पर्क या संश्लेष से जन्म-मृत्यु-परम्परा अर्थात् संसार—आवागमन—में फँस जाता है। इस बन्धन से विमोक्ष के लिये कठिन ज्ञान-साधना जीव को करनी पड़ती है। साधना वस्तुतः द्वैतावस्था की वस्तु है। एक साधक, दूसरा साध्य। साधक है जीव, और साध्य है परमात्मा जो अपने निर्गुण, निष्कल रूप में अद्वैत ब्रह्म ही है। संक्षेप मे जीव परमात्मा की उपासना और भक्ति करके क्रमशः स्वरूप का साक्षात्कार करने मे समर्थ होता है। यह स्वरूप ब्रह्म से अभिन्न है। परन्तु यह तभी सम्भव है जब उसके इन्द्रिय, मन और बुद्धि, सब वशीभूत हों। असंयत इन्द्रिय, स्वच्छन्द मन तथा विकृत बुद्धि से जीव कभी साधना नहीं कर सकता। इसी तथ्य को सुस्पष्ट करने के लिए यम ने रथ-रूपक की योजना की है। उनका कथन है कि जीवात्मा रथी है, शरीर रथ है, बुद्धि सारथी है और मन बागडोर या लगाम है। इन्द्रियाँ घोड़े हैं, विषय उनके सञ्चरण-मार्ग हैं। शरीर, इन्द्रिय, मन

और बुद्धि से युक्त जीवात्मा भोक्ता है। जैसे ठीक लक्ष्य या यात्रा के सही गन्तव्य पर सुरक्षित पहुँचने के लिए रथी के सारथी को सजग-सावधान रहते हुए बागडोर या लगाम के द्वारा घोड़ों को सही मार्ग पर चलाना आवश्यक है, उससे उन्हे इधर-उधर नहीं होने देना है, इसी प्रकार स्वलक्ष्य अर्थात् मानव-जीवन के यथार्थ गन्तव्य विष्णु या परमात्मा तक सुरक्षित रूप से पहुँचने के लिए मानव की बुद्धि को सावधान—विकारों से दूर—रहकर इन्द्रियाधिष्ठाता मन को अपनी पकड़ में रखकर—अपने हाथों में रखकर—उसके माध्यम से पञ्च कर्मेन्द्रियों एवं पञ्च ज्ञानेन्द्रियों को वशीभूत करके सन्मार्ग—सदाचार-मार्ग—से यात्रा करनी है। सारथी असावधान या प्रमत्त हुआ नहीं कि हाथ से बागडोर छूटी नहीं और बागडोर के छूटते ही घोड़े निश्चित ही मार्ग छोड़कर रथ और उस पर बैठे हुए रथी को खन्धक में ढकेल देंगे, स्वगन्तव्य पर नहीं पहुँचायेगे। इसी प्रकार बुद्धि प्रमत्त हुई नहीं कि मन उसके हाथ से छूटा नहीं, और उसके स्वच्छन्द होते ही इन्द्रियाँ भी स्वच्छन्द हो जाएँगी क्योंकि उनका नियमन तो उनके अधिष्ठाता मन के द्वारा ही सम्भव है। इन्द्रियों के स्वच्छन्द विचरण करन पर—विषयासक्त होने पर—निश्चित ही जीव सन्मार्ग की साधना से भ्रष्ट होकर जीवन के पुरुषार्थ—ब्रह्म-प्राप्ति—से भ्रष्ट हो जायगा, ब्रह्म तक नहीं पहुँच सकेगा, संसार—जन्म-मृत्यु—ही प्राप्त करता रहेगा। इस प्रकार रथ-रूपक के माध्यम से यम ने नचिकेता को साधन-मार्ग का सदुपदेश दिया है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि तीसरे मन्त्र से नवें मन्त्र तक जिस रूपक की कल्पना की गयी है, उससे यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो गई है कि यह अनित्य तथापि अतिदुर्लभ मानव-शरीर जिस जीवात्मा को अपने शुभ कर्मों के परिणामस्वरूप प्राप्त हो गया है, उसे अपना सौभाग्य समझकर अपने जीवन को मानव-जीवन की लक्ष्य-पूर्ति के निमित्त लगा देना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में अर्जुन से इसी बात को स्पष्ट करते हुये कहा है—"अनित्यमसुखं लोक-मिमं प्राप्य भजस्व माम्।" अपने जीवन के इस अमूल्य समय को यदि पशुओं की तरह सांसारिक भोगों को भोगने में ही नष्ट कर दिया गया तो उसका परिमाण यह होगा कि उस व्यक्ति को संसार के आवागमन अथवा जन्म-मृत्यु के चक्र में ही घूमते रहना पड़ेगा। और इस भाँति मानव-जीवन के लक्ष्य अथवा उद्देश्य की पूर्ति वह कभी भी न कर सकेगा। अतः मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह अपनी बुद्धि का सदुपयोग करे। सांसारिक विषय-भोग-जनित क्षणिक सुखों की वास्तविक दुःख-रूपता को समझकर उनसे उदासीन हो जाय तथा केवल शरीर-निर्वाह के लिये अपेक्षित कर्मों को निष्काम भाव से करता हुआ परमात्मा में अहर्निश तल्लीन या अनुरक्त रहे और इस प्रकार ब्रह्म का साक्षात्कार करके उस परमपद को प्राप्त कर ले जहाँ से लौटकर फिर इस संसारचक्र या जीवन एवं मृत्यु के बन्धन में न पड़ना पड़े।

तत्-सद्-ब्रह्मणे नमः

ॐ कठोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

अर्थ—सर्वरक्षक परमेश्वर हम (आचार्य और शिष्य) दोनों की साथ-साथ रक्षा करे । हम दोनों का साथ-साथ पालन करे । हम दोनों साथ-साथ (विद्याविषयक) पराक्रम (पुरुषार्थ) करें । हम दोनों का अध्ययन तेजोयुक्त हो । हम परस्पर द्वेष न करें । (हमें) त्रिविध ताप से शान्ति मिले ।

विशेष—ॐ—अवति रक्षतीति ॐ [√अव्+मन् प्रत्यय । 'ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च ।।६।४।२०।।] अर्थात् उक्त धातुओं में उपधा तथा वकार के स्थान में ऊठ् (ऊ) आदेश हो जाता है झलादि तथा अनुनासिकादि प्रत्यय लगने पर, इस नियम से अव् के अ तथा व् के स्थान में ऊ हुआ । फिर 'उ' को गुण होकर 'ओ' हुआ और मन् के टि अर्थात् अन् का लोप होकर 'ओम्' बना । इसका अर्थ 'रक्षक' होता है । यह परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम एवं प्रतीक है । अधीतम्—अधि+इङ्+क्त नपुंसके भावे, अध्ययनमित्यर्थः । तेजस्वि—तेजस्+विनि, नपुं०प्र०एक०[अस्-माया-मेधा-स्रजो विनिः अर्थात् अस् में अन्त होने वाले शब्दों, एवं माया, मेधा तथा स्रज् शब्दों से विनि प्रत्यय लगता है जिससे तेजस्वी, तमस्विनी (रात्रि), पयस्विनी (नदी) इत्यादि, एवं मायावी, मेधावी तथा स्रग्वी (मालाधारी) शब्द बनते हैं ।]

शाङ्करभाष्यम्—ॐ नमो भगवते वैवस्वताय मृत्यवे ब्रह्मविद्याचार्याय नचिकेतसे च । अथ काठकोपनिषद्वल्लीनां सुखार्थप्रबोधनार्थमल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते ।

सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति । उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवेद्यवस्तुविषया विद्योच्यते । केन पुनरर्थयोगेनोपनिषच्छब्देन विद्योच्यत इति ? उच्यते—ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवि-

तृष्णाः सन्त उपनिषच्छब्दवाच्यां वक्ष्यमाणलक्षणां विद्यामुपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्धिंसनाद्विनाशनादित्यनेनार्थयोगेन विद्योपनिषदित्युच्यते। तथा च वक्ष्यति—"निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते।" (क० उ० १।३।१५) इति। पूर्वोक्तविशेषणान्मुमुक्षून्वा परं ब्रह्म गमयतीति ब्रह्मगमयितृत्वेन योगाद् ब्रह्मविद्योपनिषद्। तथा च वक्ष्यति–"ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युः" (क० उ० २।३।१८) इति। लोकादिर्ब्रह्मजज्ञो योऽग्निस्तद्विषयाया विद्याया द्वितीयेन वरेण प्रार्थ्यमानायाः स्वर्गलोकफलप्राप्तिहेतुत्वेन गर्भवासजन्मजराद्युपद्रववृन्दस्य लोकान्तरे पौनःपुन्येन प्रवृत्तस्यावसादयितृत्वेन शैथिल्यापादनेन धात्वर्थयोगादग्निविद्याप्युपनिषदित्युच्यते। तथा च वक्ष्यति—"स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते" (क० उ० १।१।१३) इत्यादि।

ननु चोपनिषच्छब्देनाध्येतारो ग्रन्थमप्यभिलषन्ति। उपनिषदमधीमहेऽध्यापयाम इति च। नैष दोषोऽविद्यादिसंसारहेतुविशरणादेः सदिधात्वर्थस्य ग्रन्थमात्रेऽसम्भवाद्विद्यायां च सम्भवात्। ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दत्वोपपत्तेः, आयुर्वै घृतमित्यादिवत्। तस्माद्विद्यायां मुख्यया वृत्त्योपनिषच्छब्दो वर्तते, ग्रन्थे तु भक्त्येति।

एवमुपनिषन्निर्वचनेनैव विशिष्टोऽधिकारी विद्यायामुक्तः। विषयश्च विशिष्ट उक्तो विद्यायाः परं ब्रह्म प्रत्यगात्मभूतम्। प्रयोजनं चास्या उपनिषद आत्यन्तिकी संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिलक्षणा। सम्बन्धश्चैवंभूतप्रयोजनेनोक्तः। अतो यथोक्ताधिकारिविषयप्रयोजनसम्बन्धाया विद्यायाः करतलन्यस्तामलकवत् प्रकाशकत्वेन विशिष्टाधिकारिविषयप्रयोजनसम्बन्धा एता वल्ल्यो भवन्तीति। अतस्ता यथाप्रतिभानं व्याचक्ष्महे।

प्रथमः अध्यायः

प्रथमा वल्ली

ॐ उशन्ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥१॥

अर्थ ऐसी प्रसिद्धि है कि (अपने विश्वजित् यज्ञ की सफलता की) कामना करने वाले वाजश्रवस ने सर्वस्व दान कर दिया। उसका नचिकेता नामक पुत्र था।

विशेष--ॐ-- इससे उपनिषद् का आरम्भ मंगल-प्राप्त्यर्थ किया गया है क्योंकि यह परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम वेदादि सभी के द्वारा कहा गया है। ऐसी प्रसिद्धि है कि सृष्टि के आदि में ॐ तथा अर्थ शब्द ब्रह्मा जी के मुख से बलात् बाहर निकले थे, तभी वे सृष्टि करने में समर्थ हुये थे,--'ॐ शब्दश्चाथ शब्दश्च द्वावेनौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ।।' योगसूत्र, ब्रह्मसूत्र इत्यादि अनेक सूत्र-ग्रन्थ 'अथ' से आरम्भ होते हैं--'अर्थ योगानु शासनम्' 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि। **वाजश्रवसः**--वाजश्रवसोऽपत्यं पुमान् (वाजश्रवस्+अण् अपत्यार्थे)। इन्हीं का एक नाम 'गौतम' आगे के १०वें मन्त्र में उल्लिखित है। सम्भवतः यह गोत्र-नाम था। उसी के बाद ११वें मन्त्र में यम ने उन्हीं को 'औद्दालकिः' और 'आरुणिः' भी कहा है। शङ्कराचार्य ने 'उद्दालक एव औद्दालकिः' व्याख्या देकर यह बात स्पष्ट की है कि वाजश्रवस का दूसरा प्रसिद्ध नाम उद्दालक था, कुछ लोग औद्दालकि भी कहते थे। उनके 'अरुणस्यापत्यमारुणिः' लेख से स्पष्ट है कि उद्दालक के पिता का नाम अरुण था जिससे वे आरुणि भी कहे जाते थे। **उशन्**--वश् (कान्तौ, कान्तिः इच्छा, वष्टि उष्टः उषन्ति)+शतृ, प्र० पुं० एक०। ह, वै--ये दोनों प्राचीन वृत्तान्त का स्मरण कराने वाले निपात हैं। इनका अर्थ है--'ऐसी प्रसिद्धि या जनश्रुति है' इत्यादि।

सर्ववेदसम्--सर्वश्चासौ वेदाश्च (विद्लृ लाभे+असुन् 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' ॥उणादि ४।६२८॥ सूत्र से) इति सर्ववेदाः (कर्मधा०), तं सर्ववेदसम्। 'जो प्राप्त किया जाय' इस अर्थ में वेदस् शब्द बनता है जो सकारान्त पुंल्लिङ्ग है। इससे बनने वाले अन्य अधिक ज्ञात शब्द चेतस् सरस्, पयस्, सदस् (सभा), ओजस्, शिरस्, यशस्, रेतस् (वीर्य) इत्यादि हैं किन्तु ये सभी नपुं० हैं। इस प्रकार 'वेदस्' शब्द धन-सम्पत्ति का वाचक है। आस--√अस्+लिट् (प्र० पु० एक०)।

शा० भा०—तत्राख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था। उशन्कामयमानः। ह वा इति वृत्तार्थस्मरणार्थौ निपातौ। वाजमन्नं तद्दानादिनिमित्तं श्रवो यशो यस्य स वाजश्रवा, रूढितो वा। तस्यापत्यं वाजश्रवसः। स किल विश्वजिता सर्वमेधेनेजे तत्फलं कामयमानः स तस्मिन् क्रतौ सर्ववेदसं सर्वस्वं धनं ददौ दत्तवान्। तस्य यजमानस्य ह नचिकेता नाम पुत्रः किल आस बभूव ॥ १ ॥

तँ ह कुमारँ सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाविवेश। सोऽमन्यत ॥२॥

अन्वय—दक्षिणासु नीयमानासु कुमारं सन्तं तं ह श्रद्धा आविवेश। सः अमन्यत।

अर्थ—जिस समय (ऋत्विजों के लिये) दक्षिणाओं (तत्स्वरूप गायों) को (वाजश्रवस के लोग) ले जा रहे थे, तभी कुमार होने पर (भी) उस (नचिकेता) में श्रद्धा का प्रवेश हुआ। वह सोचने लगा।

विशेष—तँ, कुमारँ—दोनों पदों में अनुस्वार को ँ हो गया है। इसका उच्चारण 'ग्वं' इस रूप में होता है। इसका नियम यह है कि यजुर्वेद में यदि अनुस्वार के बाद शल् अर्थात् श् ष् स् ह् में से कोई वर्ण हो तो उसका उच्चारण 'ग्वं' रूप से होता है। इसे ँ इस विशेष चिह्न से प्रदर्शित किया जाता है। **सन्तम्**—√अस्+शतृ, पुं० द्वि० एक०। **दक्षिणासु नीयमानासु**—'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' से दोनों पदों में सप्तमी विभक्ति हुई है। नीयमानासु—√नी+यक् कर्मणि+शानच्+टाप् स्त्रियाम्, स० बहु०। **श्रद्धा**—शास्त्रादि में अविचल निष्ठा को श्रद्धा कहते हैं। भाष्यकार शङ्कराचार्य ने इसे 'आस्तिक्यबुद्धि' कहा है। आस्तिक वही है जो वेद-शास्त्रादि के वचनों को सत्य मानता है। उसी के प्रवेश के कारण नचिकेता पिता के वेदशास्त्र-विरुद्ध गोदान-कार्य के विषय में सोचने-विचारने को विवश हो गया।

शा०भा०—तं ह नचिकेतसं कुमारं प्रथमवयसं सन्तमप्राप्तजननशक्तिं बालमेव श्रद्धास्तिक्यबुद्धिः पितुर्हितकामप्रयुक्ताविवेश प्रविष्टवती। कस्मिन् काल इत्याह—ऋत्विग्भ्यः सदस्येभ्यश्च दक्षिणासु नीयमानासु विभागेनोपनीयमानासु दक्षिणासु गोषु स आविष्टश्रद्धो नचिकेता अमन्यत ॥ २ ॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत् ॥३॥

अन्वय—पीतोदकाः जग्धतृणाः दुग्धदोहाः निरिन्द्रियाः ताः ददत् सः, ते अनन्दा नाम लोकाः, तान् गच्छति।

अर्थ—(सदा के लिये) पानी पी चुकीं, घास खा चुकीं, दुही जा चुकीं, तथा इन्द्रिय (प्रजननादि) शक्ति से विहीन हुईं उन (जीर्ण) गायों को देने वाला यजमान निस्सन्देह, जो सुख-रहित लोक हैं, उन्हें प्राप्त करता है ।

विशेष—**पीतोदकाः**—पीतम्(√पा+क्त)उदकं याभिस्ताः,बहु० । **जग्धतृणाः**—जग्धं (√अद्+क्त, अदो जग्धिर्ल्यप्तिकिति ।।२।४।३६।। सूत्र अर्थात् अद् धातु से ल्यप्, क्त्वा, क्त, क्तवत् इत्यादि प्रत्यय होने पर उसको जग्ध आदेश हो जाता है, इस नियम से 'जग्ध' हो गया है) तृणं याभिस्ताः, प्र०बहु० । **दुग्धदोहाः**—दुग्धः (√दुह्+क्त)दोहः (दुह्+घञ् भावे)यासां ताः, बहु० । **निरिन्द्रियाः**—निर्गतानि इन्द्रियाणि याभ्यस्ताः, प्र० बहु० । **अनन्दाः**—अविद्यमानः नन्दः (नन्द्+घञ्) येषु ते, बहुव्रीहि समासः आनन्द-रहिताः असुखा इत्यर्थः । **ददत्**—√दा+शतृ, प्र०पुं० एक० । यहाँ 'नाभ्यस्ताच्छतुः ।।७।१।७८।। से शतृ को नुम् नहीं हुआ, अर्थात् 'ददन्' नहीं बना । सूत्रार्थ यह है कि अभ्यस्त धातुओं से जुड़ने वाले शतृ को नुम् नहीं होता । 'अभ्यास' संज्ञा 'जक्षित्यादयः षट्' ।।६।१।६।। सूत्र से जक्ष (भक्षणे) तथा जागृ, दरिद्रा (दुर्गतौ) शासु (अनुशिष्टौ), चकासृ (दीप्तौ), दीधीङ् (दीप्तिदेवनयोः), वेवीङ्—ये छः, इन सात धातुओं की है ।

शा०भा०—कथमित्युच्यते—दक्षिणार्था गावो विशेष्यन्ते । पीतमुदकं याभिस्ताः पीतोदकाः । जग्धं भक्षितं तृणं याभिस्ता जग्धतृणाः । दुग्धो दोहः क्षीराख्यो यासां ता दुग्धदोहाः । निरिन्द्रिया अप्रजननसमर्था जीर्णा निष्फला गाव इत्यर्थः । यास्ता एवम्भूता गा ऋत्विग्भ्यो दक्षिणाबुद्ध्या ददत्प्रयच्छन् अनन्दा अनानन्दा असुखा नामेत्येतद्ये ते लोकास्तान्स यजमानो गच्छति ।। ३ ।।

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति ।
द्वितीयं तृतीयं तँ होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ।।४।।

अन्वय—स ह पितरम् उवाच, तत ! कस्मै मां दास्यसि इति । द्वितीयं तृतीयम् (उवाच) । तं ह (पिता) उवाच, मृत्यवे त्वा ददामि इति ।

अर्थ—उसने पिता से कहा—पिताजी ! आप मुझे किसको देंगे ? दूसरी-तीसरी बार (उसने यही कहा) । तब पिता ने उससे कहा—तुम्हें मृत्यु को देता हूँ ।

विशेष—कुत्सित दान से प्राप्त होने वाले नारकीय लोकों से पिता को बचाने के लिये ही नचिकेता ने उनसे कहा—'मुझे किसको देंगे ? पुत्र प्राणातिप्रिय वस्तु होता है, अतः उसके सत् दान से कुदान का अनिष्ट फल नष्ट हो जायगा, इस प्रकार उसका पुत्रत्व सार्थक हो जायगा, क्योंकि 'पुत्र' वही कहा जाता है जो अपने

पिता को नरक से बचावे—"पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः । तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ।" पिता के उपेक्षा-वश उत्तर न देने पर उसने अपनी बात दुबारा-तिबारा कही । किन्तु पिता ने यह सोचकर कि यह बालकों के-से स्वभाव वाला नहीं है, क्रुद्ध होकर कहा कि तुम्हें मृत्यु को देता हूँ ।

तत—यह 'तात' इस अर्थ में सम्बोधन-पद है । आकार का अकार छान्दस ह्रस्वत्व है । त्वा—युष्मद् शब्द के द्वितीया एकवचन में 'त्वाम्' रूप बनता है, इसी के विकल्प रूप से 'त्वा' यह अन्वादेश होता है । चूँकि 'त्वाम्' के पूर्व प्रयोग के बिना 'त्वा' का प्रयोग नहीं किया जाता, अतः इसे त्वाम् का अन्वादेश कहा जाता है ।

शा० भा०—तदेव क्रत्वसम्पत्तिनिमित्तं पितुरनिष्टं फलं मया पुत्रेण सता निवारणीयमात्मप्रदानेनापि क्रतुसम्पत्तिं कृत्वेत्येवं मत्वा पितरम् उपगम्य स होवाच पितरं—हे तत तात कस्मै ऋत्विग्विशेषाय दक्षिणार्थं मां दास्यसि प्रयच्छसीत्येतत् । एवमुक्तेन पित्रोपेक्ष्यमाणोऽपि द्वितीयं तृतीयमप्युवाच—कस्मै मां दास्यसि कस्मै मां दास्यसीति । नायं कुमारस्वभाव इति क्रुद्धः सन् पिता तं ह पुत्रं किलोवाच—मृत्यवे वैवस्वताय त्वा त्वां ददामीति ॥ ४ ॥

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ।
किं स्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ।।५।।

अन्वय—बहूनाम् प्रथमः एमि बहूनाम् मध्यमः एमि । यमस्य किंस्वित् कर्तव्यम् यत् (पिता) अद्य मया करिष्यति ।

अर्थ—बहुतों के बीच मैं प्रथम हूँ, अन्य बहुतों के बीच मध्यम हूँ । यम का ऐसा कौन सा काम है जिसे (पिताजी) आज मेरे द्वारा करेंगे (करना चाहते हैं) ।

विशेष—पिता के 'मृत्यवे त्वा ददामि' ऐसा कहने पर नचिकेता को जो अनुताप हुआ, उसी का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में है । किंस्वित्—'स्वित्' वितर्क अर्थ वाला निपात है । 'किं' के साथ प्रयुक्त होकर यह 'कौन सा' इस अर्थ को प्रकट करता है । बहूनाम्—यतश्च निर्धारणम् ॥२।३।४१॥ सूत्र से षष्ठी हुई है । क्योंकि नचिकेता अनेक के समुदाय में अपने स्थान का निर्धारण (एकदेशस्य पृथक्-करणम्—सि० कौ०) कर रहा है ।

शा०भा०—स एवमुक्तः पुत्र एकान्ते परिदेवयाञ्चकार । कथमित्युच्यते—बहूनां शिष्याणां पुत्राणां वैमि गच्छामि प्रथमः सन्मुख्यया शिष्यादिवृत्त्येत्यर्थः । मध्यमानां च बहूनां मध्यमो मध्यमयैव वृत्त्यैमि । नाधमया कदाचिदपि । तमेवं विशिष्टगुणमपि पुत्रं मां मृत्यवे त्वा ददामीत्युक्तवान् पिता । स किंस्विद्यमस्य कर्तव्यं प्रयोजनं मया प्रत्तेन

करिष्यति यत् कर्तव्यमद्य ? नूनं प्रयोजनम् अनपेक्ष्यैव क्रोधवशादुक्तवान् पिता। तथापि तत् पितुर्वचो मृषा मा भूदित्येवं मत्वा परिदेवनापूर्वकमाह पितरं शोकाविष्टं किं मयोक्तमिति ॥ ५ ॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥६॥

अन्वय—यथा पूर्वे (आचरितवन्तः तत्) अनुपश्य। तथा अपरे (यथा तत्) प्रतिपश्य। मर्त्यः सस्यम् इव पच्यते, पुनः सस्यम् इव आजायते।

अर्थ—पिताजी ! पूर्व पुरुष जैसा आचरण किया करते थे, उसको भली-भाँति देखिये। एवं अन्य (वर्तमानकालिक) पुरुष जैसा आचरण करते हैं, उसे (भी) देखिये। मनुष्य खेती (फसल) की तरह पकता (वृद्ध होकर मर जाता) है, और खेती की तरह ही पुनः उत्पन्न हो जाता है।

विशेष—मन्त्र के पूर्वार्ध का तात्पर्य यह है कि न तो प्राचीन और न ही अर्वाचीन शिष्ट पुरुष कभी भी असत्य का व्यवहार करते थे। इसका कारण मन्त्र के उत्तरार्ध में दिया गया है जिसका तात्पर्य यह है कि वे असत्य का आचरण इस कारण से नहीं करते थे कि वैसा करने से वे अजर-अमर तो हो नहीं जायँगे, फिर जब जीवन क्षणिक ही है तो उसके लिये अपनी रहन क्यों बिगाड़ी जाय, अपनी बात को असत्य क्यों बनाया जाय। नचिकेता के कथन का तात्पर्य यही है कि पिताजी अपने वचन को सत्य करते हुये उसे यम के यहाँ जाने की अनुमति दे दें।

प्रस्तुत मन्त्र का महत्त्व अत्यधिक है क्योंकि इसमें सत्याचरण के जो दो गम्भीर कारण दिये गये हैं, वे वस्तुतः भारत की प्राचीन आचार-संहिता (code of conduct) के मूलभूत आधार ही हैं। मन्त्र के पूर्वार्ध पर ही गीता का "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते" ॥३।२१॥ तथा मनुस्मृति का "वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनाम् आत्मनस्तुष्टिरेव च ॥११॥ वचन आधृत है। जहाँ तक मन्त्र के उत्तरार्ध के भाव की बात है, वह तो भारतीय मनीषियों की सबसे बड़ी खोज है। यह सारा जगत् और प्राणियों का जगतिक जीवन सर्वथा नश्वर है, यह विचार वह केन्द्र-बिन्दु है जिस पर दृष्टि केन्द्रित करके ऋषि-मनीषी सदैव सदाचार एवं सद्वृत्त की प्रेरणा ग्रहण करते आये हैं।

मर्त्यः—√ मृङ् प्राणत्यागे + तन् (हसिमृग्रिण्वामिदमिलूपूधुर्विभ्यस्तन् उणादि ३७३) = मर्तः (म्रियते इति)। मर्त एव मर्त्यः (मर्त + यत् स्वार्थे) उद्धृत उणादि सूत्र का अर्थ यह है कि हस्, मृङ्, गृ, इण्, वा, अम् (गतौ) दम्, लूञ्, पूञ् तथा

धुर्वी (हिंसायाम्)—इन दस धातुओं से तन् प्रत्यय लगता है। पाणिनि के द्वारा स्वार्थिक प्रत्ययों में 'यत्' गृहीत नहीं है।

शा० भा०—अनुपश्यालोचय निभालय अनुक्रमेण यथा येन प्रकारेण वृत्ताः पूर्वे अतिक्रान्ताः पितृपितामहादयस्तव। तान् दृष्ट्वा च तेषां वृत्तमास्थातुमर्हसि। वर्तमानाश्चापरे साधवो यथा वर्तन्ते तांश्च तथा प्रतिपश्यालोचय, न च तेषु मृषाकरणं वृत्तं वर्तमानं वास्ति। तद्विपरीतमसतां च वृत्तं मृषाकरणम्। न च मृषा कृत्वा कश्चिदजरामरो भवति। यतः सस्यमिव मर्त्यो मनुष्यः पच्यते जीर्णो म्रियते। मृत्वा च सस्यमिव आजायत आविर्भवति। पुनरेवमनित्ये जीवलोके किं मृषाकरणेन। पालय आत्मनः सत्यम्। प्रेषय मां यमाय इत्यभिप्रायः ॥ ६ ॥

पूर्वापर-सम्बन्ध—पुत्र के इस प्रकार कहने पर पिता ने अपनी सत्यता के लिये उसे यम के पास भेज दिया। वह यम के यहाँ जाकर बिना कुछ भी खाये-पिये तीन रात टिका रहा क्योंकि यम उस समय बाहर थे। प्रवास से लौटने पर यम की पत्नी अथवा मन्त्रियों ने नचिकेता की बात बताते हुये उसका आतिथ्य करने के लिये इस प्रकार कहा—

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥७॥

अन्वय—ब्राह्मणः अतिथिः वैश्वानर (एव) गृहान् प्रविशति। तस्य एतां शान्तिं कुर्वन्ति, वैवस्वत! उदकं हर।

अर्थ—ब्राह्मण-अतिथि अग्नि के रूप में घरों में प्रवेश करता है। उसकी यह (अर्घ्यपाद्यादि-दान रूप) शान्ति (सत्पुरुषों द्वारा) की जाती है। हे वैवस्वत! (आप भी) जल ले जाइये।

विशेष—**वैश्वानरः**—विश्वानरस्यापत्यं पुमान् (विश्वानर+अण्)। 'विश्वानर' से अपत्यार्थक अण् प्रत्यय "ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च ॥४।१।११४"॥ सूत्र से लगा है। इसका अर्थ यह कि ऋषिवाचक शब्दों तथा अन्धक, वृष्णि एवं कुरुवंश के व्यक्तियों के नामवाचक शब्दों से भी अपत्यार्थक अण् प्रत्यय लगता है, जैसे विश्वामित्र से वैश्वामित्र, अन्धकवंशी श्वफल्क से श्वाफल्क, वृष्णिवंशी वसुदेव से वासुदेव, तथा कुरुवंशी नकुल से नाकुल। विश्वानर एक ऋषि का नाम था। इन्हीं के पुत्र होने से अग्नि 'वैश्वानर' कहलाये। 'विश्वानरः' का विग्रह 'विश्वश्चासौ नरश्च' है। 'नरे संज्ञायाम्' ॥६।३।१२९॥ से 'विश्व' शब्द के आकार को दीर्घादेश अर्थात् आकार हो जाने से 'विश्वानरः' बना। इसका अर्थ यह है कि 'नर' शब्द के आगे आने पर पूर्ववर्ती शब्द के अन्तिम स्वर को दीर्घादेश हो, यदि पूरा समास किसी का नाम

हो। विश्वानर अग्नि के पिता का भी नाम है, और सविता तथा इन्द्र की भी उपाधि है। अतिथिः—अविद्यमाना (अनियतेत्यर्थः) तिथिर्यस्य सः, बहुव्रीहि०। ब्राह्मणः—ब्रह्मणोऽपत्यं पुमान् (ब्रह्मन्+अण्)। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि—सभी ब्रह्माजी के पुत्र हैं किन्तु सभी ब्राह्मण नहीं होते। सम्भवतः समस्त पुत्रों में जो सर्वप्रथम उत्पन्न हुये, वे ही पिता की प्रमुख सन्तान होने से तन्नाम्ना 'ब्राह्मण' कहे गये—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ऋक् १०।६०।१२॥ वैवस्वतः—विवस्वतः (विवस्+मतुप्—विवः प्रभा तेजः, तदस्यास्ति विवस्वान् सूर्यः, तस्य) अपत्यं पुमान्, यम इत्यर्थः (विवस्वत्+अण् अपत्यार्थे)। यहाँ 'वैवस्वत' से यम का ही ग्रहण है। यों, सूर्य के पुत्र होने से सप्तम (वर्तमान) मनु भी 'वैवस्वत' कहे जाते हैं। अमरकोश में यम के अनेक नामों में 'वैवस्वत' भी सम्मिलित है—कालो दण्डधरः श्राद्धदेवो वैवस्वतोऽन्तकः (अमर० १।१।५६)।

शा० भा०—वैश्वानरोऽग्निरेव साक्षात् प्रविशत्यतिथिः सन् ब्राह्मणो गृहान् दहन्निव। तस्य दाहं शमयन्त इवाग्नेरेतां पाद्यासनादिदानलक्षणां शान्तिं कुर्वन्ति सन्तोऽतिथेर्यतोऽतो हराहर हे वैवस्वत! उदकं नचिकेतसे पाद्यार्थम्। यतश्चाकरणे प्रत्यवायः श्रूयते ॥ ७ ॥

आशाप्रतीक्षे संगतँ सूनृतां च
इष्टापूर्ते पुत्रपशूँश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥८॥

अन्वय—यस्य गृहे ब्राह्मणः अनश्नन् वसति, तस्य अल्पमेधसः पुरुषस्य आशा-प्रतीक्षे, संगतम्, सूनृताम् च, इष्टापूर्ते, सर्वान् पुत्रपशून् च—एतद् वृङ्क्ते।

अर्थ—जिसके घर में ब्राह्मण-अतिथि बिना भोजन किये निवास करता है, उस मन्दबुद्धि पुरुष की आशा (अज्ञात पदार्थों की प्राप्ति की कामना) एवं प्रतीक्षा (ज्ञात पदार्थों की प्राप्ति की कामना) को, सङ्गत (आशा एवं प्रतीक्षा के संयोग से प्राप्त होने वाले फल—शा० भा०) एवं सत्यप्रिय वाणी (से उत्पन्न फल) को, इष्ट (यागादि-जन्य फल) एवं पूर्त (कूप-निर्माण आदि सार्वजनिक हित-कार्यों से उत्पन्न फल) को, सारे पुत्रों और पशुओं को—इन सब को नष्ट कर देता है।

विशेष—आशाप्रतीक्षे—आशा च प्रतीक्षा चेति (इतरेतर द्वन्द्व०)। जिस इष्ट पदार्थ की प्राप्ति का कोई निश्चित ज्ञान न हो परन्तु उसे प्राप्त करने की इच्छा अवश्य हो, तद्विषयिणी कामना 'आशा' कही जाती है। जिस इष्ट पदार्थ की प्राप्ति

निश्चित हो, तद्विषयिणी कामना 'प्रतीक्षा' कही जाती है। अँग्रेजी भाषा के Hope तथा Expectation शब्द क्रमशः इनके पर्याय कहे जा सकते हैं। अनुकूल परिस्थितियों में पदोन्नति की 'आशा' की जाती है, वह प्रतीक्षित वस्तु नहीं हैं। किन्तु वर्तमान वेतन-क्रम में वार्षिक वृद्धि निश्चित होने से प्रतीक्षित वस्तु है, उसकी प्रतीक्षा सम्बद्ध व्यक्ति वर्ष भर करता रहता है, जब तक कि नये वर्ष के प्रारम्भ में उसकी प्राप्ति नहीं हो जाती।

संगतम्—सम्+√गम्+क्त (नपुंसके भावे)। **सूनृताम्**—सत्य एवं प्रिय वाणी 'सूनृतं प्रिये। सत्येऽथ सङ्कुलसंक्लिष्टे परस्परपराहते' ॥ अमर० १।६।१६ ॥ मूल में यह शब्द स्त्रीलिङ्ग में पठित है, जबकि अमरकोश में यह नपुंसकलिङ्ग में है। १।६।१७ के चतुर्थ चरण 'वाग्भेदास्तु त्रिषूत्तरे' में अमरकोशकार ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि उत्तर अर्थात् बाद में कहे जाने वाले वाक्-प्रकार 'त्रिषु' अर्थात् तीनों लिङ्गों में होते हैं, जैसे 'रुषती वाक्' 'रुषन् शब्दः', 'रुषत् वचः'। यहाँ 'वाक्' की अपेक्षा से 'सूनृता' प्रयुक्त है, इसी प्रकार 'वचः' की अपेक्षा से 'सूनृतम्' प्रयोग होगा।

इष्टम्—यज्+क्त भावे। वचिस्वपियजादीनां किति ॥६।१।१५॥ से कित् क्त प्रत्यय जुड़ने पर 'यज्' के 'य' को सम्प्रसारण अर्थात् 'इ' आदेश हो गया है। **पूर्तम्**—(√पृ या पॄ√+क्त)। यहाँ 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' ॥७।१।१०२॥ से ओष्ठ्यवर्ण-पूर्वक ऋकारन्त पृ या पॄ को उ अर्थात् उकार आदेश होने पर पु हुआ जो रपर होने पर पूर् बन गया। अब रकारान्त धातु होने से 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः ॥८।२।४२॥ से त को न होना था, परन्तु 'न ध्याख्यापॄमूर्च्छिमदाम्' ॥८।२।५७॥ से उसका बाध होने पर पूर्+त='पूर्त' बना। **इष्टापूर्ते**—इष्टं च पूर्तं चेति इष्टापूर्ते (इतरेतर द्वन्द्व०। 'अथ क्रतुकर्मेष्टं पूर्तं खातादि कर्म यत्' (अमर० २।७।२८) के अनुसार क्रतुकर्म अर्थात् यज्ञयागादि कर्म को 'इष्ट' तथा खात अर्थात् पोखरा, तालाब इत्यादि खुदवाने एवं वृक्षारोपणादि को 'पूर्त' कहा जाता है। एक देवों के प्रति स्वकर्तव्य-पालन का साधन है तो दूसरा मनुष्यों तथा तदितर भूतों के प्रति। धर्म-शास्त्रों में दोनों के लक्षण क्रमशः इस प्रकार दिये गये हैं :—"एकाग्निकर्म हवनं त्रेतायां यच्च हूयते। अन्तर्वेद्यां च यद् दानमिष्टं तदभिधीयते"॥ "वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमर्थ्याः प्रचक्षते॥"

वृङ्क्ते—विनाशयति (√वृजी अदादि, लट् प्र० पु० एक०)। **अल्पमेधसः** अल्पा मेधा यस्य सः (बहु०), तस्य। 'नित्यमसिच्प्रजामेधयोः' से समासान्त असिच् (अस्) प्रत्यय लगाकर बना है। **अनश्नन्**—न अश्नन् इति अनश्नन्, उपवसन्नित्यर्थः; नञ्+अश्+शतृ, प्र० पु० एक० (नञ्तत्पु०)।

शा० भा०— आशाप्रतीक्षेऽनिर्ज्ञातप्राप्येष्टार्थप्रार्थना आशा, निर्ज्ञातप्राप्यार्थ-प्रतीक्षणं प्रतीक्षा, ते आशाप्रतीक्षे । सङ्गतं तत्संयोगजं फलम्, सूनृतां च सूनृता हि प्रिया वाक्तन्निमित्तजं च, इष्टापूर्ते इष्टं यागजं पूर्तमारामादिक्रियाजं फलम्, पुत्रपशूंश्च पुत्रांश्च पशूंश्च सर्वानेतत्सर्वं यथोक्तं वृङ्क्त आवर्जयति विनाशयतीत्येतत्पुरुषस्याल्प-मेधसोऽल्पप्रज्ञस्य यस्यानश्नन्नभुञ्जानो ब्राह्मणो गृहे वसति । तस्मादनुपेक्षणीयः सर्वावस्था-स्वप्यतिथिरित्यर्थः ॥ ८ ॥

> तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे,
> अनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
> नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु,
> तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व ॥९॥

अन्वय—ब्रह्मन् ! यत् त्वं नमस्यः अतिथिः अनश्नन् मे गृहे तिस्रो रात्रीः अवात्सीः, तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व । ब्रह्मन् ! ते नमः अस्तु, मे स्वस्ति अस्तु ।

अर्थ—हे ब्रह्मन् ! चूँकि तुम पूज्य अतिथि होकर बिना खाये मेरे घर में तीन रात तक रहे, इसलिये प्रत्येक रात्रि के अनुसार तीन वर चुन लो (ले लो) । तुम्हें हमारा नमस्कार हो, हमारा कल्याण हो ।

विशेष—यत्—'यस्मात्' के अर्थ में प्रयुक्त अव्यय । **तिस्रः रात्रीः**—यहाँ 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' सूत्र के अनुसार द्वितीया विभक्ति हुई है । **अवात्सीः**—√ वस् + लुङ् म०पु०एक० । **नमस्यः**—नमस् + यत् (अर्हार्थे) नमस्कारयोग्य इत्यर्थः । **ते नमः, मे स्वस्ति**—'ते' तथा 'मे' में चतुर्थी 'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च' सूत्र के अनुसार हुई है । प्रति 'प्रतिरात्रि' के अर्थ में प्रयुक्त अव्यय । **स्वस्ति**—'कल्याण' के अर्थ में प्रयुक्त अव्यय । इसका रूप ज्यों का त्यों ही रहता है, बदलता नहीं सम्भवतः अपनी अव्यय-पूर्व अवस्था में इसका खण्ड'सु + अस्ति'रहा होगा । वेदों में प्राप्त 'स्वस्तये'इत्यादि प्रयोगों से इस बात की पुष्टि होती है । 'सु'अर्थात् 'शोभनम्' 'अस्ति' । जैनों के 'स्याद्-वाद' शब्द में 'स्यात्' की तरह ही 'अस्ति' भी अस् का रूप होते हुये भी अव्यय हो गया होगा । वरान् √ वृ + अप् । 'ऋदोरप्' अर्थात् ऋकारान्त तथा उकारान्त धातुओं में भावार्थक अप् प्रत्यय लगता है, इस नियम से 'व्रियते इति' इस अर्थ में अप् लगा है ।

शा० भा०—तिस्रा रात्रीर्यद्यस्मादवात्सीः उषितवानसि गृहे मे ममानश्नन् हे ब्रह्मन्नतिथिः सन्नमस्यो नमस्कारार्हश्च तस्मान्नमस्ते तुभ्यमस्तु भवतु । हे ब्रह्मन् स्वस्ति भद्रं मेऽस्तु तस्माद् भवतोऽनशनेन मद्गृहवासनिमित्ताद्दोषात्तत्प्राप्त्युपशमेन ।

यद्यपि भवदनुग्रहेण सर्वं मम स्वस्ति स्यात्तथापि त्वदधिकसंप्रसादनार्थमनशनेनोषिताम् एकैकां रात्रिं प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व अभिप्रेतार्थविशेषान् प्रार्थयस्व मत्तः ॥९॥

पूर्वापर-सम्बन्ध—वर के लिये प्रार्थित नचिकेता यम से कहता है—

शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्या-
द्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो ।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत
एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥१०॥

अन्वय—मृत्यो ! गौतमः मा अभि यथा वीतमन्युः शान्तसङ्कल्पः सुमनाः स्यात्, त्वत्प्रसृष्टं मा अभि प्रतीतः वदेत्, त्रयाणाम् एतत् प्रथमं वरं वृणे ।

अर्थ—हे यम ! मेरे पिता गौतम मेरे प्रति जिससे शोक-रहित, शान्त विचारों वाले एवं प्रसन्नचित्त हो जायँ और आप द्वारा भेजे गये मुझको पहचान कर मुझसे बोलें (बातें करें), (तदर्थं) मैं तीनों में से यह प्रथम वर वरण करता हूँ ।

विशेष—(i) 'वीतमन्युः शान्तसङ्कल्पः सुमनाः' यही अन्वय सही है और एतदनुसार ही अर्थ भी किया जाना चाहिये क्योंकि यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि दुःखी व्यक्ति के विचार कभी भी शान्त नहीं हो सकते, मन स्थिर नहीं हो सकता और उद्विग्न, अस्थिर या अशान्त मन प्रसन्न तो हो ही नहीं सकता । क्रम यही है कि पहले दुःख शान्त हो, जिससे विचार शान्त हों, तब फिर दुःखी व्यक्ति का मन स्थिर शान्त एवं प्रसन्न होगा । खेद एवं आश्चर्य का विषय है कि भाष्यकार शंकराचार्य का ध्यान इस तथ्य की ओर नहीं गया, आधुनिक व्याख्याकारों का तो गया ही नहीं ।

(ii) **शान्तसङ्कल्पः**—शान्तः (√ शम् दिवादि० + क्त—'शमादीनामुपधादीर्घः' नियम से शम् को शाम् होने पर 'म्' के स्थान में अनुस्वार और फिर उसके स्थान में परसवर्ण 'न्' होकर 'शान्त' बना) सङ्कल्पः यस्य सः (बहु०) । **सुमनाः**—सु शोभनं मनः यस्य सः (बहु०) । **वीतमन्युः**—वीतः (वि + √इण् गतौ + क्त) विगतः मन्युः शोकः यस्य सः (बहु०) । 'मन्युशोकौ तु शुक् स्त्रियाम्' (अमर० १।२५) के अनुसार 'मन्यु' शब्द शोकवाची भी होता है । प्रस्तुत तथा अगले श्लोक में इसका यही अर्थ उचित प्रतीत होता है, 'क्रोध' अर्थ नहीं क्योंकि नचिकेता के पिता का क्रोध तो तभी काफूर हो गया था जब वह उनके वचन को सत्य सिद्ध करने के भाव से यमलोक के लिये प्रस्थान करने को प्रस्तुत हो गया था और इसे देखकर वे सन्न हो गये एवं अपने किये पर पश्चात्ताप करने लगे थे जैसा १-५ के शां०भा० से भी स्पष्ट है—पितुर्वचो मृषा मा भूदित्येवं मत्वा परिदेवनापूर्वकमाह पितरं शोकाविष्टं किं मयोक्तमिति । अगले मन्त्र में

यमराज के 'सुख ँ रात्रीः....प्रमुक्तम्' कथन से भी इस बात की पुष्टि होती है। पुत्र को मृत्यु के मुख से छूटा हुआ देखकर पिता का शोक-मुक्त होना ही उपयुक्त है, क्रोध-मुक्त होना नहीं। ऐसी वस्तु-स्थिति में इस शब्द का भाष्यकार-कृत 'रोष' अर्थ उचित या संगत नहीं लगता। **अभि**—अभिलक्ष्य, प्रति इत्यर्थः। **त्वत्प्रसृष्टम्**—त्वया प्रसृष्टः प्रेषितः इति त्वत्प्रसृष्टः (युष्मत् ← त्वत् एकवचने + प्र + सृज् + क्त तृ०तत्पु०), तम्। **अभि**—तृतीयपंक्ति-गत यह शब्द 'वदेत्' से पृथक् लिया जाना चाहिये। यहाँ भी इसका अर्थ पूर्ववत् 'प्रति' ही है। 'वदेत्' के साथ लेने पर तो 'अभिवदेत्' पद 'अभिवादन'—प्रणाम-पूर्वक नाम्गोत्रादि-कथन अथवा केवल प्रणाम-का वाचक होने से सर्वथा अनुचितार्थक होगा, क्योंकि पुत्र के प्रति उसके पिता का अभिवादन तो सर्वथा ही लोक-वेद-विरुद्ध बात है। **मा**—यह 'माम्' का अन्वादेश है। इसमें 'अभि' के योग में द्वितीया विभक्ति 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' ॥२।३।८॥ सूत्र से हुई है, और इसकी 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा 'अभिरभागे' ॥१।४।९१॥ सूत्र से होगी। इसका अर्थ यह है कि 'भाग' अर्थ को छोड़कर शेष तीन अर्थों—लक्षण, इत्यम्भूताख्यान एवं वीप्सा—में 'अभि' की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा होती है। यहाँ यह 'लक्षण' अर्थ में प्रयुक्त है। **प्रतीतः**—प्रति + √इण् गतौ + क्त प्रत्यय।

शा०भा०—नचिकेतास्त्वाह—यदि दित्सुर्वरान्, शान्तसङ्कल्प उपशान्तः सङ्कल्पो यस्य मां प्रति यमं प्राप्य किं नु करिष्यति मम पुत्र इति स शान्तसङ्कल्पः सुमनाः प्रसन्नमनाश्च यथा स्याद्, वीतमन्युर्विगतरोषश्च गौतमो मम पिता माभि मां प्रति हे मृत्यो, किं च त्वत्प्रसृष्टं त्वया विनिर्मुक्तं प्रेषितं गृहं प्रति माम् अभि वदेत् प्रतीतो लब्धस्मृतिः स एवायं पुत्रो ममागत इत्येवं प्रत्यभिजानन्नित्यर्थः। एतत्प्रयोजनं त्रयाणां प्रथममाद्यं वरं वृणे प्रार्थये यत् पितुः परितोषणम् ॥१०॥

पूर्वापर-सम्बन्ध—उत्तर में मृत्यु ने इस प्रकार कहा—

यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत
औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः।
सुख ँ रात्रीः शयिता वीतमन्यु-
स्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥११॥

अन्वय—मत्प्रसृष्टः आरुणिः औद्दालकिः यथा पुरस्तात् (तथा) प्रतीतः भविता, त्वां मृत्युमुखात् प्रमुक्तं ददृशिवान् वीतमन्युः रात्रीः सुखं शयिता।

अर्थ—मेरे द्वारा प्रेरित हुआ (तुम्हारा पिता) अरुण-पुत्र उद्दालक तुम्हें पहले की ही तरह पहचान लेगा। और तुम्हें मृत्यु के मुख से छूटा हुआ देखकर चिन्ता-रहित होकर (आने वाली) रात्रियों में सुख-पूर्वक सोयेगा।

विशेष—पुरस्तात्–पूर्व+अस्ताति। 'पूर्व' को 'पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम्' ॥५।३।३९॥ सूत्र से 'पुर्' आदेश हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि अस्ताति तथा असि प्रत्यय लगने पर पूर्व को पुर्, अधर को अध् तथा अवर को अव् आदेश हो जाते हैं। **भविता**—√भू+लुट् (प्र०पु०, एक०)। **रात्रीः**—कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे सूत्र से द्वितीया विभक्ति हुई है। **शयिता**—√शी+लुट् (प्र०पु०, एक०)। **वीतमन्युः**— वीतः (वि+√इण्+क्त) मन्युः शोको चिन्ता वा यस्य सः (बहु०)। **ददृशिवान्**—√दृश्+ लिडर्थे क्वसु प्रत्यय (प्र०पु०, एक०) 'दृशेश्च' से विकल्प से अनिट् रूप 'ददृश्वान्' भी बनता है।

शा० भा०—मृत्युरुवाच—यथा बुद्धिस्त्वयि पुरस्तात् पूर्वमासीत् स्नेहसमन्विता पितुस्तव, भविता प्रीतिसमन्वितस्तव पिता तथैव प्रतीतवान् सन्नौद्दालिकः। उद्दालक एवौद्दालकिः। अरुणस्यापत्यमारुणिः, द्व्यामुष्यायणो वा। मत्प्रसृष्टो मयानुज्ञातः सन् इतरा अपि रात्रीः सुखं प्रसन्नमनाः शयिता स्वप्ता वीतमन्युर्विगतमन्युश्च भविता स्यात्त्वां पुत्रं ददृशिवान् दृष्टवान् स मृत्युमुखान्मृत्युगोचरात् प्रमुक्तं सन्तम् ॥ ११ ॥

पूर्वापर-सम्बन्ध—प्रथम वर पा लेने पर नचिकेता पुनः बोला—

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति
न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥

अन्वय—स्वर्गे लोके किञ्चन भयं न अस्ति। तत्र न त्वं, न जरया (कश्चित्) बिभेति। अशनायापिपासे उभे तीर्त्वा शोकातिगः स्वर्गलोके मोदते।

अर्थ—स्वर्गलोक में कोई भय नहीं है। वहाँ न तुम (मृत्यु के देवता यमराज) हो, और न कोई बुढ़ापे से ही डरता है। भूख और प्यास, दोनों को पार करके शोक का अतिक्रमण करके (प्राणी) स्वर्ग मे आनन्द करता है।

विशेष—**जरया**—यहाँ तृतीया का प्रयोग अपाणिनीय है, क्योंकि 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' सूत्र से 'बिभेति' के योग में इसमें पञ्चमी होनी चाहिये थी। **अशनायापिपासे**—अशनाया च पिपासा चेति अशनायापिपासे (इतरेतर द्वन्द्व)। 'अशनायोदन्यधनाया बुभुक्षापिपासागर्धेषु ॥७।४।३४॥' सूत्र से अशन्, उदक तथा धन शब्द से क्रमशः बुभुक्षा (भूख), पिपासा (प्यास) तथा गर्ध (लोभ, तृष्णा) अर्थ में ही क्यच् प्रत्यय लगने पर अशनायति, उदन्यति तथा धनायति रूप निपातित होते हैं। प्रथम

तथा अन्तिम रूपों में अंग के अन्तिमस्वर 'अ' के स्थान में दीर्घ निपात हो जाता है, तथा द्वितीय में 'उदक' के स्थान में 'उदन्' भाव निपातित होता है। ये अर्थ न होने पर क्रमशः अशनीयति, उदकीयति तथा धनीयति रूप बनते हैं। इस प्रकार अशन + क्यच् + अ भावे + टाप् स्त्रियाम् से 'अशनाया' शब्द बनता है। चूँकि 'अशनाय्' क्यजन्त रूप है, अतः 'अ प्रत्ययात्' सूत्र से भावार्थक अ प्रत्यय लगा है। प्रत्ययान्त धातु से 'भाव' अर्थ में अ प्रत्यय लगता है, यह सूत्रार्थ है। इसी नियम से √पा + सन् + अ भावे + टाप् स्त्रियाम् से 'पिपासा' शब्द बनता है। शोकातिगः—शोकम् अतीत्य गच्छतीति (शोक + अति + √गम् + ड कर्तरि—उपपदसमास)।

शा० भा०—नचिकेता उवाच—स्वर्गे लोके रोगादिनिमित्तं भयं किञ्चन किञ्चिदपि नास्ति न च तत्र त्वं मृत्यो सहसा प्रभवस्यतो जरया युक्त इह लोकवत्त्वत्तो न बिभेति कुतश्चित् तत्र। किञ्चोभे अशनायापिपासे तीर्त्वातिक्रम्य शोकमतीत्य गच्छतीति शोकातिगः सन् मानसेन दुःखेन वर्जितो मोदते हृष्यति स्वर्गलोके दिव्ये ॥१२॥

स त्वमग्नि ँ् स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो,
प्रब्रूहि त्व ँ् श्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त,
एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥१३॥

अन्वय—(हे) मृत्यो ! सः त्वम् स्वर्ग्यम् अग्निम् अध्येषि। त्वं श्रद्दधानाय मह्यं (तं) प्रब्रूहि (येन) स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते। द्वितीयेन वरेण एतद् वृणे।

अर्थ—हे मृत्युदेव ! आप स्वर्ग के साधनभूत अग्नि को जानते हैं। मुझ श्रद्धालु के प्रति आप (उस अग्नि का) उपदेश करें (जिसके द्वारा) स्वर्ग लोक के निवासी अमरता प्राप्त करते हैं (कर चुके हैं)। दूसरे वर के द्वारा मैं इसी का वरण करता हूँ।

विशेष—**स्वर्ग्यम्**—स्वर्गाय हितम् (स्वर्ग + यत् हितार्थे)। **अध्येषि**—अधि + इक् स्मरणे, म० पु० एक०। परस्मैपदी होने से यह पद 'इङ् अध्ययने' का रूप नहीं हो सकता क्योंकि इङ् धातु आत्मनेपदी होती है एवं उसके रूप अधीते, अधीयाते, अधीयते होते हैं। 'माधवीयधातुवृत्ति में इस बात का स्पष्ट कथन है:—इण् गतौ। एतदादयो वच्यन्ताः परस्मैपदिनोऽनुदात्ताः। इङ् त्वात्मनेपदी।' (पृ० ३५१) 'इक् स्मरणे। अयमप्यधिपूर्वः। मातुरध्येति' ।(पृ० ३५९) इसी से भाष्यकार ने 'अध्येषि' का अर्थ 'स्मरसि जानासि' ऐसा किया है। 'इण् गतौ' से भी यह बन सकता है। **श्रद्दधानाय**—श्रत् + √धा + शानच् चतुर्थी एक०। **स्वर्गलोकाः**—स्वर्गो लोको येषां ते (बहु०)।

शा० भा०—एवंगुणविशिष्टस्य स्वर्गलोकस्य प्राप्तिसाधनभूतमग्निं स त्वं मृत्युरध्येषि स्मरसि जानासि इत्यर्थः, हे मृत्यो यतः; त्वं प्रब्रूहि कथय श्रद्दधानाय श्रद्धावते मह्यं स्वर्गार्थिने. येनाग्निना चितेन स्वर्गलोकाः स्वर्गो लोको येषां ते स्वर्गलोकाः, यजमाना अमृतत्वम् अमरणतां देवत्वं भजन्ते प्राप्नुवन्ति। तदेतदग्निविज्ञानं द्वितीयेन वरेण वृणे ॥ १३ ॥

पूर्वापर-सम्बन्ध—नचिकेता के उत्तर में यम इस प्रकार बोले—

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध,
स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां,
विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥१४॥

अन्वय—(हे) नचिकेतः ! स्वर्ग्यम् अग्निं प्रजानन् ते प्रब्रवीमि। तत् उ मे निबोध। अनन्तलोकाप्तिम् अथो प्रतिष्ठाम् एतम् त्वम् गुहायाम् निहितं विद्धि।

अर्थ—हे नचिकेता ! स्वर्ग के साधनभूत अग्नि को अच्छी तरह जानता हुआ मैं (उसका) तुम्हारे प्रति उपदेश करता हूँ। उसे तुम मुझसे अच्छी तरह समझ लो। इस अग्नि को तुम अनन्त—कभी न अन्त होने वाले अर्थात् नित्य—स्वर्गलोक की प्राप्ति कराने वाला, (विराट रूप से) इस जगत का आश्रय, एवं (विद्वानों की बुद्धि-रूपी) गुहा में स्थित जानो।

विशेष—(i) स्वर्ग के साधनभूत जिस अग्नि का उपदेश प्रस्तुत मन्त्र में यमराज नचिकेता को दे रहे हैं, उसके सम्बन्ध में उन्होंने यहाँ तीन बातें कहीं हैं—

१. वह अग्नि 'स्वर्ग्य' अर्थात् स्वर्गलोक की प्राप्ति का साधक है। वह 'अनन्तलोकाप्ति' अर्थात् अनन्त—जिसका अन्त न हो अर्थात् नित्य—स्वर्गलोक की प्राप्ति कराने वाला है। आगे के १८वें मन्त्र के चतुर्थ चरण 'शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके' में भी यही भाव पौनःपुन्येन स्थूणानिखननन्याय से व्यक्त किया गया है।

२. वह जगत का 'आश्रय' है। भाष्यकर ने 'विराड्रूपेण' शब्द के द्वारा इसका भाव स्पष्ट कर दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि अग्नि ही इस जगत् का कारण होने से व्यापक देव है और व्यापक होने से 'विराट्' कहा जाता है। जो कारण होता है, वह व्यापक होता है और जो कार्य होता है, वह व्याप्य होता है। जैसे घट का कारण मिट्टी उस घट के प्रत्येक अंश में व्याप्त रहती है, मिट्टी ही घट का आश्रय है अर्थात् घट मिट्टी में ही प्रतिष्ठित है। यदि घट में से मिट्टी निकाल ली जाय तो 'घट' नाम से कोई वस्तु बचेगी ही नहीं। अगले मन्त्र १।१।१५ में अग्नि

को 'लोकादि' कहकर यम ने प्रकारान्तर से यही भाव प्रकट किया है। आगे के १७वें मन्त्र में इसे 'ब्रह्मजज्ञ' कहा है जिसका अर्थ ब्रह्मा अर्थात् हिरण्यगर्भ से उत्पन्न तथा ज्ञानवान् है। यह प्रथम शरीरी है जिसका शरीर या उपाधि यह भूलोक है। इसे समस्त देवों का मुख कहा गया है—'अग्निमुखा वै सर्वे देवाः।' अतः इसी सर्वमुख-स्थानीय अग्नि में समस्त देवों का भोज्य पुरोडाश डाला जाता है जिससे यजमान को अभीष्ट लौकिक सुख वैभवादि तो प्राप्त होते ही हैं, शरीर छूटने के अनन्तर अनन्त—नित्य—स्वर्गलोक भी प्राप्त होता है।

३. वह गुहा में निहित है। 'गुहा' का अर्थ भाष्यकार ने 'विद्वानों–ज्ञानियों की बुद्धि' किया है। ऊपर कहा जा चुका है कि यह भूलोक अग्नि का कार्य होने से उससे अभिन्न है। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'भूरिति अग्निः' 'भूरिति वा अयं लोकः' उक्तियों से यह भाव स्पष्ट रूप से प्रकट होता है। जो व्यक्ति पारस्परिक अभेद के इस तथ्य को जानकर आत्म-भाव से उसका अनुभव कर लेता है, वही उसके द्वार से स्वर्ग लोक प्राप्त करता है। इसी से उसे ज्ञानियों की बुद्धि में स्थित कहा गया है। अज्ञानी के लिये तो उसका आधिभौतिक रूप भले ही प्रकट हो परन्तु उपर्युक्त आधि दैविक रूप बिल्कुल ही तिरोहित या अप्रकट रहता है। इसी भाव से १८ वें मन्त्र के द्वितीय चरण 'य एवं विद्वाँश्चिनुतेनाचिकेतम्' का अर्थ करते हुए भाष्यकार ने 'एतद्वि-दिस्त्रावगत्य यश्चैवमात्मरूपेण अग्निं विद्वाँश्चिनुते निर्वर्तयति स मोदते स्वर्गलोके वैराजे विराडात्मस्वरूपप्रतिपत्त्या' इत्यादि लिखा है। इसके पूर्व १७ वें मन्त्र के उत्तरार्ध 'ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा, निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति' के भाष्य में भी वे इस तथ्य को सुस्पष्ट कर चुके हैं, जो इस प्रकार है:–'तं देवं द्योतनाज्ज्ञानादि-गुणवन्तमीड्यं स्तुत्यं विदित्वा शास्त्रतो, निचाय्य दृष्ट्वा चात्मभावेनेमां स्वबुद्धि-प्रत्यक्षां शान्तिमुपरतिमत्यन्तमेत्यतिशयेनैति। वैराजं पदं ज्ञान-कर्मसमुच्चयानुष्ठानेन प्राप्नोतीत्यर्थः।'

(ii) प्र ते ब्रवीमि—लौकिक संस्कृत में ते प्रब्रवीमि' ऐसा ही रूप होगा। क्योंकि 'ते प्राग्धातोः' (१/४/८०) सूत्र से उपसर्ग धातु-रूप के ठीक पूर्व ही होगा। वैदिक संस्कृत में 'व्यवहिताश्च' १/४/८२) सूत्र से दूर भी रह सकता है। तदु = तत् उ। 'तत्' अग्नि के लिये आया है। 'तम्' के स्थान में 'तत्' का प्रयोग लिङ्ग-व्यत्यय का स्थल है जो वैदिक भाषा में प्रायः प्राप्त होता है। 'उ' निपात निश्चयार्थक है। अनन्तलोकाप्तिम्-अविद्यमानः अन्तोयस्य सः अनन्तः नित्य इत्यर्थः, बहु०। अनन्तो लोकः अनन्त लोकः स्वर्ग इत्यर्थः। तस्य आप्तिर्यस्मात् सः, बहु०; तम्। प्रतिष्ठाम्–प्रति + √स्था + अङ् + (आतश्चोपसर्गे से) + टाप्। निहितम्–

वि + √धा + क्त ('द धातेर्हि' से)। गुहा—√गुह् + कः + टाप्। गुहा अर्थात् बुद्धि या हृदय।

शा० भा०—मृत्योः प्रतिज्ञेयम्—प्र ते तुभ्यं प्रब्रवीमि, यत्त्वया प्रार्थितं तदु मे मम वचसो निबोध बुध्यस्वैकाग्रमनाः सन् स्वर्ग्यं स्वर्गाय हितं स्वर्गसाधनमग्निं हे नचिकेतः प्रजानन् विज्ञातवानहं सन्नित्यर्थः। प्रब्रवीमि तन्निबोधेति च शिष्यबुद्धिसमाधानार्थं वचनम्।

अधुनाग्निं स्तौति। अनन्तलोकाप्ति स्वर्गलोकफलप्राप्तिसाधनम् इत्येतत्, अथो अपि प्रतिष्ठाम् आश्रयं जगतो विराड्रूपेव, तमेतमग्निं मयोच्यमानं विद्धि जानीहि त्वं निहितं स्थितं गुहायां विदुषां बुद्धौ निविष्टमित्यर्थः॥ १४॥

पौर्वापर्य-सम्बन्ध—यम ने नचिकेता को 'प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध' इस प्रकार सम्बोधित करके अग्नि के स्वरूप के विषय में जो कुछ भी कहा, वह उनके शब्दों में तो नहीं किन्तु उसका प्रतिपाद्य श्रुति के शब्दों में अगले मन्त्र में उपलब्ध है। इसीलिये इसकी अवतारणा भाष्यकार शङ्कराचार्य ने 'इदं श्रुतेर्वचनम्' इन शब्दों के द्वारा की है।

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै
या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत् प्रत्यवदद् यथोक्त-
मथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः॥१५॥

अन्वय—मृत्युः लोकादिं तम् अग्निं, या यावतीः वा यथा वा (चेतव्याः) इष्टकाः, तस्मै उवाच। स चापि तद् यथोक्तं प्रत्यवदत्। अथ मृत्युः अस्य तुष्टः पुनः एव आह।

अर्थ—यम ने लोकों के आदि (कारण-भूत) उस अग्नि का, तथा उसके चयन में जैसी और जितनी ईंटें होती हैं, एवं जिस प्रकार उसका चयन किया जाता है, उस सबका नचिकेता के प्रति वर्णन कर दिया और उसने भी उसे ज्यों का त्यों दोहरा दिया। तब उससे प्रसन्न होकर यमराज ने पुनः कहा—

विशेष—लोकादिम्—लोकस्यादिः, तम्। यावतीः—यत् + वतुप् + ङीप्। 'आ सर्वनाम्नः' सूत्र से 'यत्' के 'टि' अर्थात् अत् को आ होने पर यावत् और ङीप् होने पर 'यावती' बनता है। यहाँ प्रथमा बहु० का रूप 'यावत्यः' होना था। उसके स्थान में द्वि० बहु० का 'यावतीः' रूप विभक्ति-व्यत्यय का स्थल है। वा—'समुच्चय'

अर्थ में प्रयुक्त निपात । **यथोक्तम्**—उक्तम् अनतिक्रम्य (अव्ययी०) । **मथास्य**'''तुष्टः—इस चतुर्थ चरण में ११ से एक वर्ण अधिक होने से छन्दोभङ्ग का स्थल उपस्थित होता है । 'एवं' हटा देने से यह व्यत्यय दूर हो जाता है ।

शा० भा०—इदं श्रुतेर्वचनम्—लोकादिं लोकानामादि प्रथमशरीरित्वादग्निं तं प्रकृतं नचिकेतसा प्रार्थितमुवाचोक्तवान् मृत्युस्तस्मै नचिकेतसे । किं च, या इष्टकाश्चेतव्याः स्वरूपेण, यावतीर्वा संख्यया, यथा वा चीयतेऽग्निर्येन प्रकारेण सर्वमेतदुक्तवानित्यर्थः । स चापि नचिकेतास्तन्मृत्युनोक्तं यथावत् प्रत्ययेनावदत्प्रत्युच्चारितवान् । अथ तस्य प्रत्युच्चारणेन तुष्टः सन्मृत्युः पुनरेवाह वरत्रयव्यतिरेकेणान्यं वरं दित्सुः ।

पौर्वापर्य-सम्बन्ध—यमराज द्वारा उपदिष्ट सारी अग्नि-विद्या को ज्यों का त्यों दोहरा देने पर नचिकेता से प्रसन्न हुये यम उसे अगले मन्त्र द्वारा एक अतिरिक्त वर दे रहे हैं :—

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा
वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः
सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥१६॥

अन्वय—प्रीयमाणः महात्मा तम् अब्रवीत्—इह तव अद्य भूयः वरं ददामि । अयम् अग्निः तव एव नाम्ना भविता, इमां च अनेकरूपां सृङ्कां गृहाण ।

अर्थ—प्रसन्न होते हुये महात्मा यम ने उससे कहा—अब मैं तुम्हें फिर एक वर और देता हूँ । यह अग्नि तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध होगा । और तुम इस अनेक रूपों वाली अर्थात् विचित्र माला को ग्रहण करो ।

विशेष—**प्रीयमाणः**—√प्री (दिवादि, प्रीयते)+शानच् पुं० प्र० एक० । **तव**—'ददामि' के योग में चतुर्थी होती है, परन्तु यहाँ 'शेष'—सम्बन्ध सामान्य'—में षष्ठी हुई है । **भूयः**—'पुनः' अर्थ में अव्यय है । यों, बहु + ईयसुन् = भूयस्—भूयः 'बहुतर' या 'अधिकतर' अर्थ में विशेषण पद है किन्तु 'पुनः' अर्थ में अव्यय होकर प्रयुक्त होता है । 'बहोर्लोपो भू च बहोः' से बहु को भू आदेश तथा ईयसुन् के ई का लोप हो जाता है । **भविता**—√भू+लुट् प्र० पु० एक० । **सृङ्का**—प्रस्तुत स्थल में शङ्कराचार्य ने इसके दो अर्थ दिये हैं :—

(१) शब्दवती रत्नमयी माला (२) कर्म की अकुत्सित (प्रशस्त) गति । आगे द्वितीय वल्ली के तृतीय मन्त्र में पुनः प्रयुक्त इस शब्द का वहाँ 'सृतिं कुत्सितां

मूढजनप्रवृत्तां' अर्थ किया है। सृति का अर्थ सरणि या मार्ग है जो 'गति' का ही वाचक है। इस प्रकार द्वितीय तथा तृतीय अर्थ एक ही हैं। भेद केवल तदर्थ प्रयुक्त विशेषण का है। द्वितीय अर्थ में कर्म-मार्ग को 'अकुत्सित' कहा है, जबकि तृतीय में उसे 'कुत्सित' कहा है। 'रत्नमयी माला' यह जो प्रथम अर्थ है, वह भी शब्दतः ही भिन्न है, तात्पर्यतः नहीं। वैदिक कर्म का मार्ग–यज्ञों का मार्ग—निस्सन्देह विभूतियों और समृद्धियों का मार्ग है। देवों को उनका देय भाग देकर तथा उनको प्रसन्न करके ऐश्वर्य-प्राय अनन्त स्वर्गलोक की प्राप्ति की जाती है। इसी से तो पूर्ववर्ती मन्त्र १।१।१४ में 'अग्नि' को 'अनन्तलोकाप्ति' कहा है यम ने। यह तो स्वर्ग लोक में प्राप्तव्य विभूतियों एवं ऐश्वर्यों की बात हुई, यज्ञ करने वाला यजमान इस लोक में भी समस्त अभीष्ट वैभव-सुख प्राप्त करता है। इसी कारण से यह अकुत्सित अर्थात् प्रशंसनीय मार्ग है। द्वितीय स्थल अर्थात् १।२।३ में 'सृङ्का' को कुत्सित बताने का दूसरा रहस्य है। वस्तुतः तो सांसारिक सुख-वैभव तथा अभ्युदय के इच्छुक लौकिक व्यक्ति के लिये सर्वोत्तम मार्ग वैदिक यज्ञों का ही है। इनसे यहाँ उत्तम सुख भोग कर यजमान मृत्यु के अनन्तर स्वर्ग-सुख भोगता है, जैसा कि आगे के १७वें मन्त्र के 'त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू' तथा उसके बाद के १८वें मन्त्र के 'शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके' पादों में यम ने स्पष्ट कहा है। ऐसी स्थिति में भाष्यकार का उसे 'अकुत्सित' या प्रशंसनीय मार्ग बताना ठीक ही है। १।२।३ मन्त्र में तो यम ने नचिकेता के सर्व-विषय-त्याग की प्रशंसा करते हुये कहा है कि 'नचिकेता'! तुम सचमुच बड़े विवेकी हो जो सांसारिक विषयों की असारता को समझते हुये उनके चक्कर में नहीं पड़े और धन-प्राय—विभूति-बहुल—उस सृङ्का (मार्ग) को तुमने मेरे देने पर भी नहीं स्वीकार किया जिसमें प्रायः सभी प्राकृत या सामान्य जन आपादमस्तक डूबे रहते हैं। इस प्रकार लोक-विरक्त नचिकेता जैसे आत्मज्ञानार्थी विवेकी के प्रति तो कर्म-मार्ग त्याज्य ही ठहरता है। इसी दृष्टि से भाष्यकार ने उक्त स्थल में इसे कुत्सित मार्ग कहा है जो सर्वथा उचित ही है।

विषय को न समझकर मनमानी व्याख्या करने वालों ने इसे 'बुद्धि में रहने वाली, ज्ञानाग्नि के साथ रहने वाली, तत्त्वज्ञान-परम्परा को अबाधित गति से स्थिर रखने वाली ज्ञान-माला' बताया है जो सर्वथा उपहासास्पद एवं उपेक्षणीय है।

शा० भा०—तं नचिकेतसमब्रवीत्प्रीयमाणः शिष्ययोग्यतां पश्यन्प्रीयमाणः प्रीतिमनुभवन् महात्माक्षुद्रबुद्धिर्वरं तव चतुर्थमिह प्रीतिनिमित्तमद्येदानीं ददामि भूयः पुनः प्रयच्छामि। तवैव नचिकेतसो नाम्ना विधानेन प्रसिद्धो भविता मयोच्यमानोऽयमग्निः। किं च, सृङ्कां शब्दवतीं रत्नमयीं मालामिमामनेकरूपां विचित्रां

गृहाण स्वीकुरु । यद्वा सृङ्काम् अकुत्सितां गतिं कर्ममयीं गृहाण । अन्यदपि कर्म-विज्ञानमनेकफलहेतुत्वात् स्वीकुर्वित्यर्थः ॥ १६ ॥

पौर्वापर्य०—ऊपर 'सृङ्का' की टिप्पणी में कहा गया तथ्य १७वें तथा १८वें मन्त्र में यम के द्वारा भी कथित है । ये यज्ञ-कर्म की प्रशंसा में कहे गये हैं—

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं
त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू ।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा
निचाय्येमाँ शान्तिमत्यन्तमेति ॥१७॥

अन्वय—त्रिणाचिकेतः त्रिभिः सन्धिम् एत्य त्रिकर्मकृत् जन्ममृत्यू तरति, ब्रह्मजज्ञम् ईड्यम् देवम् विदित्वा निचाय्य इमाम् शान्तिम् अत्यन्तम् एति ।

अर्थ—नाचिकेत अग्नि का तीन बार (ज्ञान, अध्ययन एवं अनुष्ठान रूप से—शां० भा०) चयन करने वाला मनुष्य तीन व्यक्तियों (माता-पिता-आचार्य) से सम्बन्ध को प्राप्त होकर अर्थात् तीनों से सम्पर्क करके तीन कार्यों (इज्या, अध्ययन और दान) को करता हुआ जन्म और मृत्यु को पार कर जाता है । तथा ब्रह्म से उत्पन्न, ज्ञानवान् और स्तुति-योग्य देव (अग्नि) को जानकर एवं (आत्म भाव से) उसका साक्षात्कार करके इस—स्वबुद्धि-प्रत्यक्ष—शान्ति को आत्यन्तिक रूप से प्राप्त कर लेता है ।

विशेष—**त्रिणाचिकेतः**—त्रि+नाचिकेतः । पिछले मन्त्र में नचिकेता को दिये गये अतिरिक्त वर के अनुसार इस मन्त्र में यम ने अग्नि को ठीक ही 'नाचिकेत' कहा । 'त्रि' के र के कारण न को ण होने पर 'त्रिणाचिकेत' शब्द बना जिसका अर्थ हुआ नाचिकेत अग्नि का ज्ञान, चिन्तन एवं अनुष्ठान, इन तीन प्रकारों से चयन करने वाला । **ब्रह्मजज्ञम्**—ब्रह्मणो जातः ब्रह्मजः (उपपद समास) । स चासौ ज्ञश्चेति ब्रह्मजज्ञः (विशेषणोभयपद कर्मधा०); तम् । यह पद अग्नि देव के लिये ही आया है जिसे पीछे १४वें मन्त्र में 'स्वर्ग्यम् अग्निम्' तथा १५वें मन्त्र में 'लोकादिमग्निम्' कहा है । भू लोक में ब्रह्मा से उत्पन्न प्रथम शरीरी होने के कारण ही उन्हें यहाँ 'लोकादि' एवं 'ब्रह्मज' कहा । **ईड्यम्**—√ईड् (स्तुतौ)+यत् । **निचाय्य**—√नि+√चि +णिच् (स्वार्थे)+क्त्वा—ल्यप् । **त्रिकर्मकृत्**—त्रयाणां कर्मणां समाहारः त्रिकर्म (समाहार द्विगु) । तत् करोतीति त्रिकर्मकृत् = त्रिकर्म + √कृ + क्विप् कर्तरि (उपपद०) । **अत्यन्तम्**—अन्तम् अतिक्रान्तम् इति अत्यन्तं (प्रादिसमास), तत् यथा

स्यात् तथा, अतिशयेनेत्यर्थः। यह (अव्यय) की तरह यहाँ प्रयुक्त हुआ है और 'एति' क्रिया का विशेषण है, न कि 'शान्तिम्' का विशेषण; क्योंकि तब इसका रूप 'अत्यन्ताम्' होता।

शा० भा०—पुनरपि कर्मस्तुतिमेवाह—त्रिणाचिकेतस्त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो येन स त्रिणाचिकेतस्तद्विज्ञानस्तदध्ययनस्तदनुष्ठानवान्वा। त्रिभिर्मातृपित्राचार्यैरेत्य प्राप्य सन्धिं सन्धानं सम्बन्धं मात्राद्यनुशासनं यथावत्प्राप्येत्येतत्। तद्धि प्रामाण्यकारणं श्रुत्यन्तराद् अवगम्यते, यथा "मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात् (बृ० ४।१।२) इत्यादेः। वेदस्मृतिशिष्टैर्वा प्रत्यक्षानुमानागमैर्वा, तेभ्यो हि विशुद्धिः प्रत्यक्षा, त्रिकर्मकृदिज्याध्ययनदानानां कर्ता तरत्यतिक्रामति जन्ममृत्यू। किं च ब्रह्मजज्ञं ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाज्जातो ब्रह्मजः। ब्रह्मजश्चासौ ज्ञश्चेति ब्रह्मजज्ञः सर्वज्ञो ह्यसौ। तं देवं द्योतनाज्ज्ञानादिगुणवन्तमीड्यं स्तुत्यं विदित्वा शास्त्रतो निचाय्य दृष्ट्वा चात्मभावेनेमां स्वबुद्धिप्रत्यक्षां शान्तिमुपरतिमत्यन्तमेत्यतिशयेनैति। वैराजं पदं ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानेन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा
य एवं विद्वाँश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १८॥

अन्वय—यः त्रिणाचिकेतः विद्वान् एतत् त्रयम् विदित्वा एवं नाचिकेतम् चिनुते सः मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगः स्वर्गलोके मोदते।

अर्थ—जो त्रिणाचिकेत इन तीनों (अर्थात् कैसी और कितनी ईंटें होती हैं और अग्नि का चयन कैसे किया जाता है) को जानकर नाचिकेत अग्नि को इस प्रकार आत्म-रूप से जानकर उसका चयन करता है, वह मृत्यु के बन्धनों को (शरीर-त्याग से) पूर्व ही तोड़कर शोक-रहित होकर स्वर्ग-लोक में आनन्द करता है।

विशेष—**नाचिकेतम्**-नचिकेतसः अयम् इति नाचिकेतः (नचिकेतस् + अण्), तम्। यहाँ सकारान्त शब्द नचिकेतस् अकारान्त अर्थात् नचिकेत बन गया है और (उससे अण्) प्रत्यय लगाने पर 'नाचिकेत' शब्द बना है। **मृत्युपाशान्**—मृत्योः पाशाः मृत्युपाशाः (षष्ठी तत्पु०), तान्। भाष्यकार शङ्कराचार्य ने 'मृत्युपाश' से अधर्म-अज्ञान-राग-द्वेषादि लिया है। **प्रणोद्य**—प्र + √नुद् + णिच् + क्त्वा—ल्यप्।

कुछ आधुनिक व्याख्याकार इस मन्त्र में जीवन्मुक्तावस्था का वर्णन मानते हैं। यह उनका शुद्ध प्रमाद है। प्रकरण चला आ रहा है अग्नि-विज्ञान या यज्ञ-विद्या का जो इसी मन्त्र में उपसंहृत हुआ है, जैसा कि इसके शंकर-कृत अवतरणिका-भाष्य

से भी स्पष्ट है—'इदानीमग्निविज्ञानफलम् उपसंहरति प्रकरणं च'। फिर आत्म-ज्ञान की फलभूत जीवन्मुक्तावस्था बीच में कहाँ से आ जायगी ? अभी तक तो आत्म-ज्ञान का प्रकरण आरम्भ ही नहीं हुआ। वह तो अगले मन्त्र में तृतीय वर माँगने के लिये यम द्वारा प्रेरित होने पर नचिकेता द्वारा २० वें मन्त्र में उठाया जायगा। फिर उसके स्वरूपसाधनादि का वर्णन होने के बाद फल-भूत जीवन्मुक्ति का वर्णन आयेगा। इसीलिये 'मृत्युपाशान्' का अर्थ शङ्कराचार्य ने अधर्म-अज्ञान-राग-द्वेषादि किया है। इस बात का अनेकशः वर्णन उपनिषदों में हुआ है कि यज्ञादि का विशिष्ट फल विविध सांसारिक सुखों एवं स्वर्गादि की प्राप्ति तो है ही, चित्त-शुद्धि भी उसका फल है। अधर्म-अज्ञान-राग-द्वेषादि चित्त-दोष भी यज्ञानुष्ठान से प्रायेण दूर हो जाते हैं। किन्तु जन्म-मृत्यु के बन्धन से आत्यन्तिक रूप से छुटकारा तो आत्म-ज्ञान से ही हो पाता है।

शा० भा०—इदानीमग्निविज्ञानचयनफलम् उपसंहरति प्रकरणं च—त्रिणाचिकेतस्त्रयं यथोक्तं या इष्टका यावतीर्वा यथा वेत्येतद् विदित्वावगत्य यश्चैवमात्मरूपेण अग्निं विद्वांश्चिनुते निर्वर्तयति नाचिकेतमग्निं क्रतुं, स मृत्युपाशान् अधर्माज्ञानरागद्वेषादिलक्षणान् पुरतः अग्रतः पूर्वमेव शरीरपातात् इत्यर्थः, प्रणोद्यापहाय शोकातिगो मानसैर्दुःखैर्वर्जित इत्येतत् मोदते स्वर्गलोके वैराजे विराडात्मस्वरूपप्रतिपत्त्या ॥ १८ ॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो
यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनास—
स्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥१९॥

अन्वय—(हे) नचिकेतः ! एषः ते स्वर्ग्यः अग्निः यं द्वितीयेन वरेण अवृणीथाः। जनासः एतम् अग्निं तव एव (नाम्ना) प्रवक्ष्यन्ति। (हे) नचिकेतः ! तृतीयं वरं वृणीष्व।

अर्थ—हे नचिकेता ! यह रहा तुम्हारा स्वर्ग का साधन अग्नि जिसको तुमने दूसरे वर के द्वारा वरण किया था। लोग इस अग्नि को तुम्हारे ही नाम से कहेंगे (पुकारेंगे)। हे नचिकेता ! (अब) तीसरा वर माँगो।

विशेष—स्वर्ग्यं—स्वर्ग + यत्। जनासः—'जन' शब्द का प्रथमा बहु० का रूप। वेद में 'जनाः' के विकल्प से 'जनासः' भी रूप होता है। प्रवक्ष्यन्ति—प्र + √ब्रू या वच्

+लृट्, प्र० पु० बहु० । 'ब्रुवो वचिः' सूत्र से ब्रू का लृट् मे वच् आदेश होने पर 'वक्ष्यति' इत्यादि ही रूप बनते हैं ।

शा० भा०—एष ते तुभ्यमग्निर्वरो हे नचिकेतः स्वर्ग्यः स्वर्गसाधनो यमग्निं वरमवृणीथाः प्रार्थितवानसि द्वितीयेन वरेण सोऽग्निर्वरो दत्त इत्युक्तोपसंहारः । किञ्चैतमग्निं तवैव नाम्ना प्रवक्ष्यन्ति जनासो जना इत्येतत् । एष वरो दत्तो मया चतुर्थस्तुष्टेन । तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व । तस्मिन्ह्यदत्त ऋणवानहमित्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः ॥२०॥

अन्वय— प्रेते मनुष्ये या इयम् विचिकित्सा, अस्ति इति एके, अयम् न अस्ति इति च एके । त्वया अनुशिष्टः अहम् एतत् विद्याम्, वराणाम् एषः तृतीयः वरः ।

अर्थ—मृत मनुष्य के विषय में जो यह सन्देह है, कुछ लोग कहते हैं कि 'रहता है' अन्य लोग कहते है कि 'नहीं रहता' (तो) आप से शिक्षित हुआ मैं इसको (तत्वतः) जानूँ, वरों में यह तीसरा वर है ।

विशेष—(i) इस मन्त्र में नचिकेता ने जो प्रेत मनुष्य के सम्बन्ध में अस्ति, नास्ति का महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है, उसे लेकर अत्यन्त प्राचीनकाल से ही विवाद होते रहे हैं । जो प्रेत या मरे हुये पुरुष का अस्तित्व मानते रहे, वे 'आस्तिक'-अस्ति परलोको जीवस्येति मतिर्यस्य सः अर्थात् जीवनित्यत्ववादिनः—कहलाये । इसके विपरीत जो अस्तित्व इनकारते रहे, वे 'नास्तिक'-नास्ति परलोको जीवस्येति मतिर्यस्य सः अर्थात् जीवानित्यत्ववादिनः—कहलाये । आस्तिकता का सिद्धान्त वैदिक ऋषियों का था, इसीसे मनु ने 'नास्तिको वेदनिन्दकः' कहा । अर्थात् वेद-विरोधी नास्तिक है । इससे वेदानुयायी या वेद समर्थक आस्तिक है, यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है । न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा या वेदान्त–ये छ सम्प्रदाय आस्तिक हैं क्योंकि ये सभी मृत्यु के बाद भी जीव की सत्ता मानते हैं । उनके अनुसार वह इस लोक से चले जाने पर भी अपने पूर्व कर्म के भोग के लिये बना रहता है, नष्ट नहीं होता । दूसरे शब्दों में आस्तिक स्वकृत कर्मों के प्रति कर्ता का नैतिक उत्तरदायित्व मानता है जिसका फल उसे अवश्य ही भुगतना पड़ेगा । इस प्रकार आस्तिकता

या जीव के नित्यत्व में विश्वास नैतिक आचार की आधार-शिला है। इसी कारण नचिकेता इस प्रश्न का सही समाधान चाहता था,और मृत्युदेव यमराज इसके लिये सबसे उपयुक्त व्यक्ति थे।

(ii) प्रेते—प्र + √इण् (गतौ) + क्त (सप्तमी एक०)। प्र अर्थात् दूर, इत अर्थात् चला गया अर्थात् मृत व्यक्ति। विचिकित्सा-वि + √कित् + सन् + अ + टाप्। भ्वादिगणी कित् धातु नित्य सन्नन्त होती है। केतयति इत्यादि रूप तो चुरादिगणी कित् धातु के होते हैं, ऐसा माधवीय-धातु-वृत्ति का मत है। इस प्रकार 'चिकित्सति' (चिकित्सा करता है) इत्यादि रूप 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' इस नियम से बनते हैं। 'गुप्' से जुगुप्सते (निन्दा करता है), इत्यादि तथा 'तिज्' से तितिक्षते (सहता है) इत्यादि रूप बनते हैं। इसी प्रकार बध् (बन्धने) से सन् लगने पर बीभत्सते (वैरूप्य उत्पन्न करता है) बनता है। इन सभी धातुओं मे सन् प्रत्यय इच्छा से भिन्न तत्तद् अर्थों में लगता है जैसाकि वृत्ति में स्पष्ट किया गया है—'अयं च सन् गुपेर्निन्दायाम् तिजेः क्षमायाम्, बन्धेर्वैरूप्ये'। कित् में भी सन् 'व्याधिप्रतीकारे सन्' इस वृत्ति-गत कथन के अनुसार 'चिकित्सा' अर्थ में लगता है। परन्तु माधवीय-धातु-वृत्ति के अनुसार यह उपलक्षण-मात्र है, अर्थात् सन्नन्त कित्—चिकित्स—धातु के संशय करना आदि अन्य अर्थ भी होते हैं। प्रस्तुत प्रसङ्ग में विचिकित्सा का अर्थ संशय ही है। विद्याम्—√विद् ज्ञाने + विधिलिङ् उ० पु० एक०। अनुशिष्टः—अनु + √शास् + क्त। शास् धातु के आ के स्थान में इ 'शास इदङ्हलोः' सूत्र से हुआ है।

शा० भा०—एतावद्व्यतिक्रान्तेन विधिप्रतिषेधार्थेन मन्त्रब्राह्मणेनावगन्तव्यं यद्वरद्वयसूचितं वस्तु। न आत्मतत्त्वविषययाथात्म्यविज्ञानम्। अतो विधिप्रतिषेधार्थविषयस्यात्मनि क्रियाकारकफलाध्यारोपलक्षणस्य स्वाभाविकस्याज्ञानस्य संसार। बीजस्य। निवृत्त्यर्थं तद्विपरीतब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं क्रियाकारकफलाध्यारोपणलक्षणशून्यम् आत्यन्तिकनिःश्रेयसप्रयोजनं वक्तव्यमिति उत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते। तमेतमर्थं द्वितीयवरप्राप्त्याकृतार्थत्वं तृतीय-त्याप्वरगोचरमात्मज्ञानमन्तरेण इत्याख्यायिकया प्रपञ्चयति—यतः पूर्वस्मात्कर्मगोचरात् साध्यसाधनलक्षणादनित्याद्विरक्तस्य आत्मज्ञानेऽधिकार इति तन्निन्दार्थं पुत्राद्युपन्यासेन प्रलोभनं क्रियते।

नचिकेता उवाच तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्वेत्युक्तः सन्—येयं विचिकित्सा संशयः प्रेते मृते मनुष्येऽस्तीत्येकेऽस्ति शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिव्यतिरिक्तो देहान्तरसम्बन्ध्यात्मेत्येके नायम् अस्तीति चैके नायमेवंविधोऽस्तीति चैके अतश्चास्माकं न प्रत्यक्षेण नापि वानुमानेन निर्णयविज्ञानमेतद्विज्ञानाधीनो हि परः पुरुषार्थ

इत्यत एतद्विद्यां विजानीयामहम् अनुशिष्टो ज्ञापितस्त्वया । वराणामेष वरस्तृतीयोऽवशिष्टः ।। २० ।।

पौर्वापर्य०—जीवात्मा-जैसे अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ के ज्ञान का अधिकारी या पात्र नचिकेता है भी या नहीं, इसे जानने के लिये यम की अगली उक्ति है। शङ्कराचार्य ने भी अवतरणिका-भाष्य में इसे स्पष्ट किया है:—'किमयमेकान्ततो निःश्रेयससाधनात्मज्ञानार्हो न वेत्येतत्परीक्षणार्थमाह' ।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा
न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः ।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व
मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ।।२१।।

अन्वय—पुरा देवैः अपि अत्र विचिकित्सितम् । (एतत्) न हि सुविज्ञेयम् । एषः धर्मः अणुः । [हे] नचिकेतः ! अन्यं वरं वृणीष्व । मा मा उपरोत्सीः । एनं मा अतिसृज ।

अर्थ—प्राचीन काल में देवों ने भी इस विषय में सन्देह किया था क्योंकि यह सरलता से जानने योग्य नहीं है । यह आत्मतत्त्व बड़ा सूक्ष्म है, नचिकेता ! तुम कोई दूसरा वर ले लो । मेरे लिये रुकावट न उत्पन्न करो । इसे मेरे लिये छोड़ दो ।

विशेष—हि—'क्योंकि' के अर्थ में प्रयुक्त निपात (अव्यय) । उपरोत्सीः—उप + √रुध् + लुङ् म० पु० एक० । 'माङि लुङ्' सूत्र से लुङ् लकार तथा 'न माङ्योगे' सूत्र से माङ् के योग में अट् आगम का निषेध हुआ । अन्यथा उप+अरोत्सीः =उपारोत्सीः रूप होता । मा, मा—'माम्' के स्थान में अन्वादेश । अतिसृज-अति+√सृज्+लोट् म० पु० एक० । इस स्थल में अति (उपसर्ग) एवं सृज (धातु-रूप) अलग-अलग प्रयुक्त हैं । वैदिक भाषा में उभयथा—साथ भी और पृथक् भी—प्रयोग होता है ।

शा० भा०—किमयमेकान्ततो निःश्रेयससाधनात्मज्ञानार्हो न वेत्येतत्परीक्षणार्थमाह—देवैरप्यत्रैतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं संशयितं पुरा पूर्वं, न हि सुज्ञेयं सुष्ठु ज्ञेयं श्रुतमपि प्राकृतैर्जनैर्यतोऽणुः सूक्ष्म एष आत्माख्यो धर्मोऽतोऽन्यमसन्दिग्धफलं वरं नचिकेतो वृणीष्व । मा मां मोपरोत्सीरुपरोधं मा कार्षीरधमर्णम् इवोत्तमर्णः । अतिसृज विमुञ्च एनं वरं मा मां प्रति ।। २१ ।।

पौर्वापर्य०—यम का वचन सुन नचिकेता ने इस प्रकार कहा—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल
त्वं च मृत्यो यन्न सुज्ञेयमात्थ ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो
नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ।।२२।।

अन्वय—(हे) मृत्यो ! त्वं यत् आत्थ देवैः अपि अत्र विचिकित्सितं किल, (एतत्) च न सुविज्ञेयम्, (अतः) अस्य वक्ता च त्वादृग् अन्यः न लभ्यः । एतस्य तुल्यः अन्यः कश्चित् वरः न ।

अर्थ—हे यमराज ! आप जो कहते हैं कि प्राचीन काल में देवों ने भी इसके विषय में सन्देह किया था और यह सरलता से जानने योग्य नहीं है । अतः स्पष्ट है आप-सदृश इसका दूसरा कोई वक्ता नहीं मिल सकता और इसके समान दूसरा कोई वर (भी) नहीं है ।

विशेष—**विचिकित्सितम्**—वि + √कित् + सन् + क्त । **सुज्ञेयम्**—सु + √ज्ञा + यत् । **वक्ता**—√वच् + तृच् कर्तरि प्रथमा पुं० एक० । **आत्थ**—√ब्रू + लट् म० पु० एक० । ब्रू धातु के लट् में ब्रवीति ब्रूतः ब्रुवन्ति, ब्रवीषि और ब्रूथः, इन परस्मैपदी पाँच रूपों के स्थान में विकल्प से आह, आहतुः, आहुः, आत्थ एवं आहथुः—ये पाँच रूप होते हैं । त्वादृक—युष्मत्→त्वत् + √दृश् + क्विन् (त्वादृश्) प्रथमा पुं० एक० यहाँ । 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च' ।३।२।६० सूत्र से क्विन् लगा है । कञ् प्रत्यय लगने पर 'त्वादृश' (कञ् का अ जुड़ने से) रूप बनता है ।

शा० भा०—देवैरत्राप्येतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं किलेति भवत एव (नः) श्रुतम् । त्वं च मृत्यो यद् यस्मान्न सुज्ञेयमात्मतत्त्वमात्थ कथयसि, अतः पण्डितैरप्यवेदनीयत्वाद् वक्ता चास्य धर्मस्य त्वादृक्त्वत्तुल्यः अन्यः पण्डितश्च न लभ्यः अन्विष्यमाणोऽपि । अयं तु वरो निःश्रेयसप्राप्तिहेतुः । अतो नान्यो वरस्तुल्यः सदृशोऽस्त्येतस्य कश्चिदप्यनित्यफलत्वादन्यस्य सर्वस्यैवेत्यभिप्रायः ।। २२ ।।

पौर्वापर्य०—नचिकेता की दृढ़ता देखकर यम उसे इस प्रकार प्रलोभन दे रहे हैं—

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व
बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् ।

भूमेर्महदायतनं वृणीष्व
स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥२३॥

अन्वय—शतायुषः पुत्रपौत्रान्, बहून् पशून् हस्तिहिरण्यम् अश्वान् वृणीष्व, भूमेः महत् आयतनं वृणीष्व, स्वयं च यावत् शरदः इच्छसि जीव ।

अर्थ—(हे नचिकेता !) तुम शतायु पुत्र-पौत्र, अनेक पशु, हाथी, सुवर्ण और घोड़े माँग लो, महान् भूमण्डल भी माँग लो और स्वयं भी जितने वर्ष चाहो, जिओ ।

विशेष—**शतायुषः**—शतम् आयूंषि येषां ते शतायुषः (बहुव्रीहि०), तान् । **हस्तिहिरण्यम्**—हस्तिनश्च हिरण्यानि चेति हस्तिहिरण्यम् (समाहार द्वन्द्व०) । **यावत् शरदः**—'शरद्' वर्षवाची स्त्रीलिङ्ग शब्द है । 'शरदः' इसका द्वि० बहु० का रूप है । यहाँ 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' सूत्र से द्वितीया प्रयुक्त हुई है । तदनुसार 'यावत्' के स्थान में 'यावतीः' (स्त्री० द्वि० बहु०) पद प्रयुक्त होना चाहिये था । यहाँ विभक्ति एवं लिङ्ग, दोनों का विपरिणाम करके 'यावत्' के स्थान में 'यावतीः' ग्रहण करना चाहिये । वेद में ऐसा प्रायः करना पड़ता है ।

शा० भा०—एवमुक्तोऽपि पुनः प्रलोभयन्नुवाच मृत्युः—शतायुषः शतं-वर्षाण्यायूंषि एषां तान् शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व । किं च गवादिलक्षणान् बहून् पशून्, हस्तिहिरण्यं हस्ती च हिरण्यं च हस्तिहिरण्यम्, अश्वांश्च, किं च भूमेः पृथिव्या महद्विस्तीर्णमायतनमाश्रयं मण्डलं राज्यं वृणीष्व । किं च सर्वमप्येतद् अनर्थकं स्वयं चेदल्पायुरित्यत आह—स्वयं च जीव त्वं जीव धारय शरीरं समग्रेन्द्रियकलापं शरदो वर्षाणि यावदिच्छसि जीवितुम् ॥ २३ ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं
वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि
कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥२४॥

अन्वय—एतत्तुल्यं यदि (अन्यं) वरं मन्यसे (तर्हि तं), वित्तं चिरजीविकां च वृणीष्व । [हे] नचिकेतः ! त्वं महाभूमौ एधि । त्वा कामानां कामभाजं करोमि ।

अर्थ—इसके समान यदि तुम कोई और वर समझते हो तो उसे तथा धन

और चिरस्थायिनी जीविका माँग लो। हे नचिकेता! तुम इस विस्तृत पृथ्वी पर वृद्धि प्राप्त करो। मैं तुम्हें भोगों का इच्छानुसार भोक्ता बना देता हूँ।

विशेष—चिरजीविकाम्—चिरं (चिरकालं यावत्) जीविकेति चिरजीविका (सुप्सुपा०), ताम्। एधि-√एध् वृद्धौ+लोट् म० पु० एक०। **कामानाम्**—काम्यन्ते इति कामाः (√कम्+णिङ् स्वार्थे + घञ् कर्मणि। 'कमेर्णिङ्' से स्वार्थ में णिङ् प्रत्यय कम् धातु में लगता है), तेषाम्। यहाँ काम का अर्थ भोग या भोग-विषय है। **कामभाजम्**—कामः (√कम्+णिङ्+घञ् भावे) इच्छा, तेन तस्माद् वा भजते इति कामभाक् (काम+√भज्+ण्विः, 'भजोण्विः' इस सूत्र से), तम्।

शा० भा०—एतत्तुल्यमेतेन यथोपदिष्टेन सदृशमन्यमपि यदि मन्यसे वरं तमपि वृणीष्व। किं च, वित्तं प्रभूतं हिरण्यरत्नादि चिरजीविकां च सह वित्तेन वृणीष्वेत्येतत्। किं बहुना, महत्यां भूमौ राजा नचिकेतस्त्वमेधि भव। किं चान्यत्, कामानां दिव्यानां मानुषाणां च त्वा त्वां कामभाजं कामभागिनं कामार्हं करोमि। सत्यसंकल्पो ह्यहं देवः॥ २४॥

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान् कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः॥२५॥

अन्वय—मर्त्यलोके ये ये कामाः दुर्लभाः [तान्] सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व। इमाः सरथाः सतूर्याः रामाः। ईदृशाः मनुष्यैः न लम्भनीयाः हि। मत्प्रत्ताभिः आभिः परिचारयस्व। नचिकेतः! मरणं मा अनुप्राक्षीः।

अर्थ—मृत्यु-लोक (मनुष्य-लोक) में जो-जो भोग (भोग्य-विषय) दुर्लभ हैं [उन] सब भोगों को स्वेच्छानुसार माँग लो। रथ एवं वाद्यों के सहित ये रमणियाँ हैं। निस्सन्देह ऐसी (रमणियाँ) मानवों को प्राप्त होने योग्य नहीं होतीं। मेरे द्वारा दी गई इनसे अपनी परिचर्या-सेवा कराओ (किन्तु) नचिकेता! मरण के सम्बन्ध में मत पूँछो।

विशेष—दुर्लभाः—दुर्+√लभ्+खल् (ईषद्दुस्सुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्,

सूत्र से)। हि—'निस्सन्देह' के अर्थ में प्रयुक्त निपात। लम्भनीयाः-√लभ्+णिच् स्वार्थे+अनीयर्। 'लभेश्च' से लभ् में णिच् लगने पर नुम् का आगम होकर 'लम्भय्' हो जाता है। छन्दतः-छन्द (इच्छावाची अकारान्त पु० शब्द जो सकारान्त नपुंसकलिङ्ग 'छन्दस्' शब्द से भिन्न है)+तसिः (तस्) प्रत्यय। सरथाः—रथैः सह ('तेन सहेति तुल्ययोगे' सूत्र से बहुव्रीहि)। इसी प्रकार सतूर्याः भी बनेगा। मत्प्रत्ताभिः-मया प्रत्ताः मत्प्रताः (तृ० तत्पु०), ताभिः। प्रत्ता—प्र+√दा+क्त+टाप् स्त्रियाम्। 'अच उपसर्गात्तः' सूत्र से 'दा' के स्थान में 'त्' आदेश होने पर प्र+त्+त=प्रत्त शब्द बनता है। परिचारयस्व—परि+√चर्+णिच्+लोट् म० पु० एक०।

शा० भा०—ये ये कामाः प्रार्थनीया दुर्लभाश्च मर्त्यलोके सर्वांस्तान् कामांश्छन्दत इच्छातः प्रार्थयस्व। किं चेमा दिव्या अप्सरसो रमयन्ति पुरुषानिति रामाः सह रथैर्वर्तन्त इति सरथाः सतूर्याः सवादित्रास्ताश्च न हि लम्भनीयाः प्रापणीया ईदृशा एवंविधा मनुष्यैर्मर्त्यैरस्मदादिप्रसादमन्तरेण। आभिर्मत्प्रत्ताभिर्मया दत्ताभिः परिचारिणीभिः परिचारयस्व आत्मानं पादप्रक्षालनादिशुश्रूषां कारयात्मन इत्यर्थः। नचिकेतो मरणं मरणसम्बद्धं प्रश्नं प्रेतेऽस्ति नास्तीति काकदन्तपरीक्षारूपं मानुप्राक्षीर्मैवं प्रष्टुमर्हसि ॥ २५ ॥

पौर्वापर्य०—इस प्रकार प्रलोभन दिये जाने पर भी अक्षोभ्य नचिकेता ने कहा—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥२६॥

अन्वय—(हे) अन्तक! श्वोभावाः मर्त्यस्य सर्वेन्द्रियाणां यत् एतत् तेजः (तत्) जरयन्ति। सर्वं जीवितम् अपि अल्पम् एव। तव वाहाः नृत्यगीते तव एव।

अर्थ—हे यम! कल तक भी निश्चित रूप से न रहने वाले अर्थात् सर्वथा क्षणिक भोग-पदार्थ मनुष्य की सारी इन्द्रियों के तेज को क्षीण कर देते हैं। सम्पूर्ण जीवन भी तो थोड़ा ही है। अतः आपके वाहन और नाच-गान आपके ही पास रहें।

विशेष—श्वोभावाः-श्वः भावः (सत्ता) येषां ते (बहुव्रीहि०)। 'इसका शब्दार्थ हुआ क्षण-स्थायी, क्षणिक। भाष्यकार के अनुसार इसका अर्थ है 'आने वाले कल को

भी सन्दिग्ध सत्ता वाले'। अर्थ तो यही ज्यादा युक्त है, क्योंकि पूर्व अर्थ में कल की सत्ता निश्चित मान ली गई जो सम्भावित सत्य तो है परन्तु निश्चित नहीं। हो सकता है, वे कल भी न रहें, आज ही, अभी ही समाप्त हो जायँ। यह सातिशय क्षणिकत्व भाष्यकार के अर्थ में झलकता है। परन्तु पूर्व अर्थ अधिक शाब्दिक है, शब्दानुसारी है, जैसा कि समास-विग्रह में दिखाया गया है। जरयन्ति—√जॄ (वयोहानौ)+णिच्+लट् प्र०पु० बहु०।

शा० भा०—एवं प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता महाह्रदवदक्षोभ्य आह—श्वो भविष्यन्ति न भविष्यन्ति वेति संदिह्यमान एव येषां भावो भवनं त्वयोपन्यस्तानां भोगानां ते श्वोभावाः। किं च, मर्त्यस्य मनुष्यस्यान्तक हे मृत्यो! यदेतत्सर्वेन्द्रियाणां तेजस्तज्जरयन्ति अपक्षयन्त्यप्सरःप्रभृतयो भोगाः। अनर्थायैवैते, धर्मवीर्यप्रज्ञातेजोयशःप्रभृतीनां क्षपयितृत्वात्। यां चापि दीर्घजीविकां त्वं दित्ससि तत्रापि शृणु। सर्वं यद् ब्रह्मणोऽपि जीवितमायुरल्पमेव, किमुतास्मदादिदीर्घजीविका। अतस्तवैव तिष्ठन्तु वाहा रथादयः तथा नृत्यगीते च॥ २६॥

> न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
> लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
> जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं
> वरस्तु मे वरणीयः स एव॥२७॥

अन्वय—मनुष्यः वित्तेन न तर्पणीयः, त्वा चेत् अद्राक्ष्म वित्तं लप्स्यामहे। यावत् त्वम् ईशिष्यसि (तावत्) जीविष्यामः। मे तु स एव वरः वरणीयः।

अर्थ—मनुष्य धन से सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। यदि आप को देख लिया है तो धन पा ही लेंगे। (और) जब तक आप शासन करेंगे (तब तक तो) हम जियेंगे (ही)। (इसलिये) मेरे लिये तो वही वर वरण करने योग्य है।

विशेष—तर्पणीयः—तृप्+अनीयर्। लप्स्यामहे—√लभ्+लृट् (उ०पु० बहु०)। अद्राक्ष्म—√दृश्+लुङ् (उ०पु०बहु०)। वरः—√वृ+अप् ('ऋदोरप्' सूत्र से)। वरणीयः—√वृ+अनीयर्।

शा० भा०—किं च, न प्रभूतेन वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। न हि लोके वित्तलाभः कस्यचित्तृप्तिकरो दृष्टः। यदि नामास्माकं वित्ततृष्णा स्याल्लप्स्यामहे प्राप्स्यामह इत्येतद्वित्तमद्राक्ष्म दृष्टवन्तो वयं चेत्त्वा त्वाम्। जीवितमपि तथैव। जीविष्यामो यावद्याम्ये पदे त्वम् ईशिष्यसीशिष्यसे प्रभुः स्याः। कथं हि मर्त्यस्त्वया

समेत्यालपधनानुर्भवेत् । वरस्तु मे वरणीयः स एव यदात्मविज्ञानम् ॥ २७ ॥

अजीर्यताम मृताना मुपेत्य
जीर्यन्मर्त्य. क्वध स्थ. प्रजानन् ।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदान्
अतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥२८॥

अन्वय—क्वध स्थ जीर्यन् क प्रजानन् मर्त्य अजीर्यताम् अमृतानाम् उपेत्य वर्णरतिप्रमोदान् अभिध्यायन् अतिदीर्घे (अपि) जीविते रमेत ।

अर्थ—नीचे पृथ्वी पर रहने वाला जराग्रस्त एव मरणाशील कौन विवेकी व्यक्ति जरा एव मरण से ग्रस्त न होने वाले अजर-अमर देवो के समीप पहुँचकर वर्ण के राग अर्थात् आसङ्ग से उत्पन्न होने वाले (स्त्री-सम्भोगादि) सुखो को (अस्थिर) देखता हुआ अति दीर्घ जीवन मे (भी) सुख मानेगा ?

विशेष—अजीर्यताम्—नञ् + जॄ √ + शतृ (पु० षष्ठी बहुवचन)। अमृतानाम् —न मृता अमृता (नञ् तत्पु०), तेषाम् । मर्त्य —द्रष्टव्य पीछे मन्त्र ६ मे दी गई टिप्पणी । क्वध स्थ - कौ (पृथिव्यां) अधः तिष्ठतीति (कु + अध + √ स्था + क कर्तरि), उपपद समास । प्रजानन् —प्र + √ ज्ञा + शतृ (पु० प्र० एक०) । अभिध्यायन्—अभि + √ ध्यै + शतृ (पु० प्र० एक०) । वर्णरतिप्रमोदान्—वर्णे रति (आसक्ति मोहो वो) वर्णरति (स० तत्पु०); तया तस्या वा प्रमोदा वर्णरति-प्रमोदा (तृ० या पं० तत्पु०); तान् । जीविते—√ जीव् + क्त (नपुसके भावे) जीवने इत्यर्थ ।

शा० भा०—यतश्च अजीर्यता वयोहानिमप्राप्नुवताममृताना सकाशमुपेत्योपगम्यात्मन उत्कृष्टं प्रयोजनान्तर प्राप्तव्य तेभ्यः प्रजानन् उपलभमान स्वय तु जीर्यन्मर्त्यो जरामरणवान्, क्वध स्थ कु पृथिवी अधश्चान्तरिक्षादिलोकापेक्षया तस्यां तिष्ठतीति क्वध स्थ. सन् कथमेवमविवेकिभि प्रार्थनीय पुत्रवित्तहिरण्याद्यस्थिर वृणीते । क्व तदास्थ इति वा पाठान्तरम् । अस्मिन्पक्षे चाक्षरयोजना । तेषु पुत्रादिष्वास्था आस्थिति तात्पर्येण वर्तन यस्य स तदास्थः । ततोऽधिकतर पुरुषार्थं दुष्प्रापमपि प्रापिपयिषु क्व तदास्थो भवेन्न कश्चित्तदसारज्ञस्तदर्थी स्याद् इत्यर्थ । सर्वो ह्युपर्युपर्येव बुभूषति लोक तस्मान्न पुत्रवित्तादिलोभै. प्रलोभ्योऽहम् । किं चाप्सर प्रमुखान् वर्णरतिप्रमोदाननवस्थितरूपतयाभिध्यायन्निरूपयन् यथावत् अतिदीर्घे जीविते

विवेकी रमेत् ॥ २८ ॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो
यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
नान्यं तस्मान्नाचिकेता वृणीते ॥२९॥

अन्वय-मृत्यो ! यस्मिन् इदं विचिकित्सन्ति यत् (च) महति साम्पराये तत् नः ब्रूहि । गूढम् अनुप्रविष्टः यः अयं वरः तस्मात् अन्यं नचिकेता न वृणीते ।

अर्थ—हे यम ! जिस (प्रेत) के विषय में (रहता है या नहीं) यह शङ्का (लोग) करते हैं, एवं महान् परलोक के विषय में जो 'विज्ञान) है, वह दोनों हमें बतलाइये । यह जो गहनता मे प्रविष्ट गूढ वर है, इससे भिन्न (वर) नचिकेता नही वरण करता ।

विशेष—साम्पराये—सम्परायः(सम्+परा+√इण् गतौ+अच्) एव साम्परायः (सम्पराय+अण् स्वार्थे)। 'सम्पराय' का अर्थ है परलोक—सम् सम्यक् परा दूरम् ईयते गम्यते प्राप्यते इति सम्परायः परलोकः। आगे की द्वितीय वल्ली के छठें मन्त्र में भी 'साम्पराय' शब्द आया है। वहाँ भाष्यकार ने इसका अर्थ परलोक का (शास्त्रीय) साधन-विशेष कहा है–'सम्पर ईयत इति सम्परायः परलोकस्तत्प्राप्तिप्रयोजनः साधनविशेषः शास्त्रीयः साम्परायः ।' गूढम्—√गुह्+क्त । अनुप्रविष्टः—अनु+प्र+√विश्+क्त ।

शा०भा०—अतो विहायानित्यैः कामैः प्रलोभनं यन्मया प्रार्थितम्—यस्मिन् प्रेत इदं विचिकित्सनं विचिकित्सन्ति अस्ति नास्तीत्येवंप्रकारं हे मृत्यो साम्पराये परलोकविषये महति [illegible] आत्मनो निर्णयविज्ञानं यत्तद् ब्रूहि कथय नोऽस्मभ्यम् । किं बहुना, योऽयं प्रकृत आत्मविषयो वरो गूढं गहनं दुर्विवेचनं प्राप्तोऽनुप्रविष्टः । तस्माद्वरादन्यमविवेकिभिः प्रार्थनीयमनित्यविषयं वरं नचिकेता न वृणीते मनसापीति श्रुतेर्वचनमिति ॥ २९ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतःकृतौ कठोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये प्रथमवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥१॥

द्वितीया वल्ली

पौर्वापर्य०–पिछली वल्ली के प्रतिपाद्य विषय के साथ इस द्वितीय वल्ली के सम्बन्ध को शङ्कराचार्य ने अपने अवतरणिकाभाष्य में इस प्रकार स्पष्ट किया है—परीक्ष्य शिष्यं विद्यायोग्यतां चावगम्याह। अर्थात् शिष्य की परीक्षा कर एवं उसमें विद्याग्रहण की योग्यता जान कर यमराज ने कहा—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय—
स्ते उभे नानार्थे पुरुषँ सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु
भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥१॥

अन्वय—श्रेयः अन्यत् उत प्रेयः अन्यत् एव। नानार्थे ते उभे पुरुषं सिनीतः। तयोः श्रेयः आददानस्य साधु भवति, यः उ प्रेयः वृणीते (सः) अर्थात् हीयते।

अर्थ—श्रेय (विद्या) और है तथा प्रेय (अविद्या) और ही है। विभिन्न प्रयोजन वाले वे दोनों पुरुष को बाँधते हैं। उनमें से श्रेय का ग्रहण करने वाले का कल्याण (शुभ) होता है और जो प्रेय का वरण करता है, वह पुरुषार्थ से च्युत (भ्रष्ट) हो जाता है।

विशेष—श्रेयः—प्रशस्य + ईयसुन्। ईयसुन् तथा इष्ठन् लगने पर 'प्रशस्यस्य श्रः'। ५।३।६० सूत्र से प्रशस्य को 'श्र' आदेश हो जाता है। इस प्रकार श्र+ईयस्=श्रेयस् शब्द बनता है। प्रेयः—प्रिय + ईयसुन्। ईयसुन् तथा इष्ठन् प्रत्यय लगने पर 'प्रिय' को 'प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्बंहिगर्वर्षित्रब्द्राघिवृन्दाः'। ६।४।१५७ सूत्र से 'प्र' आदेश होता है। इस प्रकार प्र+ईयस्=प्रेयस् शब्द बनता है। संरचना की दृष्टि से श्रेयस् तथा प्रेयस्, दोनों ही शब्द विशेषण होने पर भी संज्ञा की तरह प्रयुक्त होते हैं। यहाँ कल्याण या विद्या तथा अकल्याण या अविद्या के अर्थ में ये संज्ञावत् ही प्रयुक्त हुये हैं।

नानार्थे—नाना विभिन्नौ अर्थौ प्रयोजने ययोस्ते, बहुव्रीहि०।

सिनीतः—√षिञ् बन्धने (क्र्यादि०), लट् प्रथम० द्विवचन।

आददानस्य—आ+√दा+शानच्, ष० एक० (गृह्णतः इत्यर्थः)।

हीयते—√हा + लट् प्रथम० एक० । **वृणीते**—√वृञ् वरणे (क्र्यादि०), लट्, प्रथम० एक० । यह उभयपदी धातु है । अतः वृणाति एवं वृणीते, दोनों प्रकार से रूप बनते हैं ।

शा०भा०—अन्यत्पृथगेव श्रेयो निःश्रेयसं तथान्यदुताप्येव प्रेयः प्रियतरमपि । ते प्रेयःश्रेयसी उभे नानार्थे भिन्नप्रयोजने सती पुरुषमधिकृतं वर्णाश्रमादिविशिष्टं सिनीतो बध्नीतस्ताभ्यामात्मकर्तव्यतया प्रयुज्यते सर्वः पुरुषः । श्रेयःप्रेयःसोर्ह्यभ्युदयामृतत्वार्थी पुरुषः प्रवर्तते । अतः श्रेयः प्रेयः प्रयोजन कर्तव्यतया ताभ्यां बद्धः इत्युच्यते सर्वः पुरुषः । ते यद्यप्येकैकपुरुषार्थसम्बन्धिनी विद्याविद्यारूपत्वाद्विरुद्धे इत्यन्यतरापरित्यागेनैकेन पुरुषेण सहानुष्ठातुमशक्यत्वात् तयोर्हित्वाविद्यारूपं प्रेयः श्रेय एव केवलमाददानस्योपादानं कुर्वतः साधु शोभनं शिवं भवति । यस्त्वदूरदर्शी विमूढो हीयते वियुज्यतेऽस्मादर्थात् पुरुषार्थात् पारमार्थिकात्प्रयोजनान्नित्यात् प्रच्यवत इत्यर्थः । कोऽसौ ? य उ प्रेयो वृणीत उपादत्त इत्येतत् ।। १ ।।

पौर्वापर्य०—यदि मनुष्य श्रेय एवं प्रेय में अन्यतर को ग्रहण करने में स्वतन्त्र है तो क्यों अधिक लोग प्रेय को स्वीकार करते हैं ? यम का उत्तर है—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत—
स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ।।२।।

अन्वय—श्रेयः च प्रेयः च मनुष्यम् एतः, धीरः तौ सम्परीत्य विविनक्ति, धीरः प्रेयसः श्रेयः हि अभिवृणीते, मन्दः योगक्षेमात् प्रेयः वृणीते ।

अर्थ—श्रेय और प्रेय (दोनों घुले-मिले से) मनुष्य के पास आते हैं । बुद्धिमान् पुरुष उन दोनों को भली-भाँति समझ कर अलग-अलग करता है । एवं वह प्रेय के समक्ष श्रेय को ही वरण करता है । किन्तु मूढ योग और क्षेम के कारण प्रेय को वरण करता है ।

विशेष—**एतः**—आ + √इण् गतौ, लट् प्रथम० द्वि० (आगच्छत इत्यर्थः) । **सम्परीत्य**—सम् + परि + √इण् + क्त्वा → ल्यप् । **विविनक्ति**—वि + √विचिर् पृथग्भावे (रुधादि०), लट् प्रथम० एक० । **योगक्षेमात्**—योगश्च क्षेमश्चेति योगक्षेमम् (समाहार द्वन्द्व), तस्मात् । यहाँ 'हेतौ' इस सूत्र से कारण अर्थ में पञ्चमी हुई है । 'योग' शब्द 'युजिर्' योगे (रुधादि०) से घञ् प्रत्यय लगकर बना है । इसका शाब्दिक

अर्थ है किसी वस्तु या पदार्थ का योग या संयोग। फिर इसी से इसका विकसित अर्थ हुआ 'अप्राप्त की प्राप्ति'। इसी प्रकार 'क्षेम' का शब्दार्थ होता है कल्याण, कुशल। इसी से विकसित होकर इसका पारिभाषिक अर्थ हो गया 'प्राप्त वस्तु की रक्षा'। वस्तुतः सांसारिक व्यक्ति के लिये श्रम तथा कष्ट से प्राप्त या अर्जित वस्तु के सुरक्षित रहने से बढ़कर और कोई क्षेम होता भी नहीं। संक्षेप में योग और क्षेम के अन्तर्गत सारी सांसारिकता का समावेश है। सामान्य व्यक्ति का सारा जीवन अभीष्ट वस्तुओं के अर्जन या संग्रह और उसके संरक्षण में ही बीतता हैं।

शा॰ भा॰—यद्युभे अपि कर्तुं स्वायत्ते पुरुषेण, किमर्थं प्रेय एवादत्ते बाहुल्येन लोक इत्युच्यते—

सत्यं स्वायत्ते तथापि साधनतः फलतश्च मन्दबुद्धीनां दुर्विवेकरूपे सती व्यामिश्रीभूते इव मनुष्यमेतः पुरुषमा इतः प्राप्नुतः श्रेयश्च प्रेयश्च। अतो हंस इवाम्भसः पयस्तौ श्रेयःप्रेयःपदार्थौ सम्परीत्य सम्यक्परिगम्य मनसालोच्य गुरुलाघवं विविनक्ति पृथक्करोति धीरो धीमान्। विविच्य च श्रेयो हि श्रेय एवाभिवृणीते प्रेयसोऽभ्यर्हितत्वात्। कोऽसौ? धीरः।

यस्तु मन्दोऽल्पबुद्धिः स विवेकासामर्थ्याद्योगक्षेमाद् योगक्षेमनिमित्तं शरीराद्युपचयरक्षणनिमित्तमित्येतत्प्रेयः पशुपुत्रादिलक्षणं वृणीते॥ २॥

पौर्वापर्य॰—तृतीय मन्त्र में प्रेय के प्रलोभन में न फंसने वाले नचिकेता की प्रशंसा करते हुये यमराज कहते हैं—

स त्वं प्रियान्प्रियरूपांश्च कामा-
नभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो
यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः॥३॥

अन्वय—नचिकेतः! सः त्वम् प्रियान् प्रियरूपान् च कामान् अभिध्यायन् अत्यस्राक्षीः, एताम् वित्तमयीम् सृङ्काम् न अवाप्तः, यस्याम् बहवः मनुष्याः मज्जन्ति।

अर्थ—हे नचिकेता! उस तुमने (पुत्रवित्तादि) प्रिय एवं (अप्सरादि) प्रियरूप भोगों को (उनकी अनित्यता एवं असारता को) सोचते हुए त्याग दिया, (और) इस धनमयी गति (सरणि) को नहीं प्राप्त हुए जिसमें अनेक जन डूब जाते हैं।

विशेष—सः—इसका तात्पर्य है—उस प्रकार से प्रेय के त्याग के कार ण

विदित। **प्रियरूपान्**—प्रियाणि रूपाणि येषां ते (बहुव्रीहि)। अप्सरा इत्यादि अपने रूप के कारण प्रिय लगने वाले भोग-पदार्थ हैं। पुत्रादि तो कुरूप होने पर भी माता-पिता को प्रिय लगने के कारण 'प्रिय' पदार्थ हैं। किसी माँ का काला-कलूटा, काना बेटा भी उसका लाल ही है। **कामान्**—काम्यन्ते इति कामा भोगविषया: (कर्मणि घञ्), तान्। **अभिध्यायन्**—अभि + √ध्यै + शतृ पुं० प्र० एक०। **अत्यस्राक्षी:**—अति + √सृज्, लुङ् मध्यम० एक०। **सृङ्काम्**—यह शब्द पीछे १।१।१६ मन्त्र में भी आया है। इस पर टिप्पणी वहीं द्रष्टव्य है। **अवाप्त:**—अव + √आप् + क्त कर्तरि। **मज्जन्ति**—√(टु) मस्जो शुद्धौ (तुदादि०) लट् प्रथम० बहु०। 'झलां जश् झशि' सूत्र से स् के स्थान में द् होने पर, आगे स्थित ज् के कारण 'स्तो: श्चुना श्चु:' सूत्र से द् के स्थान में ज् होकर मज्जति मज्जत: मज्जन्ति इत्यादि रूप बनते हैं। शुद्धि के लिये स्नानादि किया जाता है, और तदर्थ जल में डूबा जाता है, अत: इस धातु के स्नान करना तथा डूबना भी अर्थ हो गये। यहाँ यह डूबने—निमग्न होने—के अर्थ में प्रयुक्त है।

शा०भा०—स त्वं पुन: पुनर्मया प्रलोभ्यमानोऽपि प्रियान् पुत्रादीन् प्रियरूपांश्चाप्सर:प्रभृतिलक्षणान् कामानभिध्यायंश्चिन्तयंस्तेषामनित्यत्वासारत्वादिदोषान् हे नचिकेतोऽत्यस्राक्षीरतिसृष्टवान् परित्यक्तवानस्यहो बुद्धिमत्ता तव। नैतामवाप्तवानसि सृङ्कां सृतिं कुत्सितां मूढजनप्रवृत्तां वित्तमयीं धनप्रायाम्। यस्यां सृतौ मज्जन्ति सीदन्ति बहवोऽनेके मूढा मनुष्या:॥ ३॥

पौर्वापर्य०—श्रेय को वरण करने वाले का कल्याण तथा प्रेय को वरण करने वाले का पतन—पुरुषार्थ-भ्रंश—होता है। इस प्रथम-मन्त्रोक्त कथन का कारण बताते हुये यमराज कहते हैं:—

दूरमेते विपरीते विषूची
अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये
न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥४॥

अन्वय—या विद्या अविद्या च इति ज्ञाता, एते दूरम् विपरीते विषूची, (त्वां) नचिकेतसम् विद्याभीप्सिनम् मन्ये, (यत:) बहव: कामा: त्वा न अलोलुपन्त।

अर्थ—जो विद्या और अविद्या रूप से जानी जाती हैं, ये दोनों परस्पर अत्यन्त विरुद्ध और विभिन्न दिशाओं को जाने वाली (गतियाँ) हैं अर्थात् विभिन्न फल

देने वाले मार्ग हैं। मैं तुझ नचिकेता को विद्या का अभिलाषी मानता हूँ (क्योंकि) अनेक काम्य पदार्थ तुमको (अपने लक्ष्य से) भ्रष्ट नहीं कर सके (अलग नहीं कर सके)।

विशेष—ज्ञाता–√ज्ञा+क्त+टाप्। दूरम्–अत्यन्त। यहाँ यह अव्यय की तरह प्रयुक्त हुआ है और 'विपरीते' इस विशेषण-पद की विशेषता प्रकट करता है। विपरीते–वि+परि+√इण् गतौ+क्त स्त्री० प्रथमा द्वि०। विषूची—विषु+√अञ्च् गतौ+क्विन्+ङीप् (स्त्रियाम्)। 'विषु' का अर्थ है नाना या अनेक। इस प्रकार इस शब्द का अर्थ है 'नाना या विभिन्न दिशाओं में जाने वाली'। यह विशेषण पद है और विद्या तथा अविद्या के लिये प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः द्विवचन में 'विषूच्यौ' यह द्विवचनान्त प्रयोग ('विपरीते' की तरह) होना चाहिये था, इसके स्थान मे एकवचनान्त 'विषूची' का प्रयोग छान्दस या वैदिक कहा जायगा। अपेक्षानुसार इसका 'विषूच्यौ' यह द्विवचनान्त विपरिणाम कर लेना चाहिये, जैसा शङ्कर ने अपने भाष्य में किया है। **विद्याभीप्सिनम्**–विद्याम् अभीप्सतीति विद्याभीप्सी (विद्या+अभि+√आप्+सन्+णिनिः–उपपदतत्पु०), तम्। ध्यान देने की बात है कि सन्नन्त आप् धातु के आ के स्थान में 'आप्ज्ञप्यृधामीत्' ७।४।५५ सूत्र से ई होकर ईप्स् बनता है। इस प्रकार अभि+ईप्स्=अभीप्स् रूप बन जाता है जिसका रूप अभीप्सति इत्यादि बनता है। **अलोलुपन्त**–√लुप्लृ छेदने (तुदादि) +यङ्-लुक्, लङ्लकार प्रथम० बहु०। विमोहन (लुभाना) अर्थ वाली लुप् धातु दिवादिगणी है और इसके रूप लुप्यति, लुप्यतः, लुप्यन्ति इत्यादि होते हैं जबकि लुप्लृ के लुम्पति, लुम्पतः, लुम्पन्ति इत्यादि रूप होते हैं। यङ् लगने पर इसके लोलुप्यते इत्यादि रूप लट् लकार में होते हैं। इसी से शङ्कराचार्य ने 'नालोलुपन्त' का 'न विच्छेदं कृतवन्तः श्रेयोमार्गात्' इत्यादि अर्थ किया है। एतदनुसारी अर्थ ही ऊपर दिया गया है। जिन्होंने इससे भिन्न 'नहीं लुभाया' अर्थ किया है, उन्होंने ठीक नहीं किया है क्योंकि 'अलोलुपन्त' रूप विमोहन अर्थ वाली लुप् (दिवादि०) से बनेगा ही नहीं। हाँ, इतना अवश्य सत्य है कि श्रेयोमार्ग से अलग न करने का अप्रत्यक्ष अर्थ 'अपनी ओर खीचना' या 'लुभाना' ही है, अतः भावार्थ की दृष्टि से ऐसा अर्थ करना बहुत असंगत या अनुचित नहीं है।

शा०भा०—दूरं दूरेण महतान्तरेणैते विपरीते अन्योन्यव्यावृत्तरूपे विवेकाविवेकात्मकत्वात्तमःप्रकाशाविव। विषूची विषूच्यौ नानागती भिन्नफले संसारमोक्षहेतुत्वेनेत्येतत्। के ते इत्युच्यते—या चाविद्या प्रेयोविषया विद्येति च श्रेयोविषया ज्ञाता निर्ज्ञातावगता पण्डितैः। तत्र विद्याभीप्सिनं विद्यार्थिनं नचिकेतसं त्वामहं मन्ये। कस्मात्? यस्मादविद्वद्बुद्धिप्रलोभिनः कामा अप्सरःप्रभृतयो बहवोऽपि त्वा त्वां नालोलुपन्त न

विच्छेदं कृतवन्तः श्रेयोमार्गादात्मोपभोगाभिवाञ्छासंपादनेन। अतो विद्यार्थिनं श्रेयोभाजनं मन्य इत्यभिप्रायः ॥ ४ ॥

पौर्वापर्य०—अगले दो मन्त्रों में यमराज अविद्या में संलग्न व्यक्ति की दुर्दशा का वर्णन करते हैं—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥५॥

अन्वय—अविद्यायाम् अन्तरे वर्तमानाः स्वयम् धीराः पण्डितं मन्यमानाः दन्द्रम्यमाणाः मूढाः परियन्ति, यथा अन्धेन एव नीयमानाः अन्धाः।

अर्थ—अविद्या के भीतर रहने वाले, अपने-आप बुद्धिमान् बने हुये, अपने को पण्डित मानने वाले मूढ पुरुष निरन्तर कुटिल (टेढ़े-मेढ़े) मार्गों से चलते हुये वैसे ही भटकते रहते हैं जैसे अन्धे के द्वारा नीयमान अन्धे।

विशेष—**अविद्यायामन्तरे**–यह आर्ष प्रयोग है। लौकिक संस्कृत में 'अविद्यायाः अन्तरे' प्रयोग होगा अथवा केवल 'अविद्यायाम्'। **मन्यमानाः**–√मन् (दिवादि०) ज्ञाने+शानच्, पुं० प्रथमा बहु०। **दन्द्रम्यमाणाः**—√द्रम् गतौ (भ्वादि, द्रमति)+यङ्+शानच्, पुं० प्रथमा बहु०। 'नित्यं कौटिल्ये गतौ'। ३।१।२३ अर्थात् गत्यर्थक धातुओं से 'कौटिल्य' अर्थ में ही यङ् प्रत्यय लगता है, इस नियम से कुटिल रूप से चलने के अर्थ में 'द्रन्द्रम्य्' धातु निष्पन्न होती है। यङ् प्रत्यय के अभ्यास (पुनरावृत्ति)–कारक होने से द्रम् का अभ्यास होकर दम् द्रम्=दन्द्रम् हुआ और यङ् का य् जुडकर द्रन्द्रम्य् बनता है जिसके दन्द्रम्यते, दन्द्रम्येते, दन्द्रम्यन्ते इत्यादि रूप बनते हैं। **परियन्ति**—परि+√इण् गतौ, लट्लकार प्रथम० बहु०। **मूढाः** √मुह्+क्त, पुं० प्रथमा बहु०। **नीयमानाः**—√नी+यक् कर्मणि +शानच् पुं० प्रथमा बहु०।

शा०भा०—अविद्यायामन्तरे मध्ये घनीभूत इव तमसि वर्तमाना वेष्ट्यमानाः पुत्रपश्वादितृष्णापाशशतैः। स्वयं वयं धीराः प्रज्ञावन्तः पण्डिताः शास्त्रकुशलाश्चेति मन्यमानास्ते दन्द्रम्यमाणा अत्यर्थं कुटिलामनेकरूपां गतिमिच्छन्तो जरामरणरोगादिदुःखैः परियन्ति परिगच्छन्ति मूढा अविवेकिनोऽन्धेनैव दृष्टिविहीनेनैव नीयमाना विषमे पथि यथा बहवोऽन्धा महान्तमनर्थमृच्छन्ति तद्वत् ॥ ५ ॥

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥६॥

अन्वय—वित्तमोहेन मूढम् प्रमाद्यन्तम् बालम् साम्परायः न प्रतिभाति, अयम् लोकः परः न अस्ति इति मानी पुनः पुनः मे वशम् आपद्यते ।

अर्थ—धन के मोह से अन्धे हुये, (अतः) प्रमाद करने वाले उस मूढ को परलोक का साधन नहीं सूझता । यही लोक है, परलोक नहीं है, ऐसा मानने वाला वह बार-बार मेरे वशीभूत होता है । (अर्थात् जन्म-मरण की परम्परा को प्राप्त होता है, संसरण करता रहता है, आवागमन से मुक्त नहीं हो पाता) ।

विशेष—साम्परायः-यह शब्द १.१.२९ में पीछे आ चुका है । अतः इसकी व्याख्या और टिप्पणी वहीं द्रष्टव्य है । **प्रमाद्यन्तम्**-प्र + √मदि हर्षे (दिवादि०) + शतृ पुं०द्वि० एक० । प्र पूर्वक मद् धातु का अर्थ हर्ष न होकर प्रमाद या स्खलन होता है । 'शमामष्टानां दीर्घः श्यनि' ।७।३।७४ सूत्र से शमु, तमु, दमु, श्रमु, भ्रमु, क्षमू, क्लमु तथा मदि—इन आठ धातुओं की उपधा को दीर्घ होकर शाम्, दाम् इत्यादि हो जाता है, दिवादिगणी होने से आगे श्यन् लगने पर । इस प्रकार शाम्यति, ताम्यति, दाम्यति, श्राम्यति इत्यादि रूप बनते हैं । **मानी**-√मन् (दिवादि०) + णिनिः । **आपद्यते**-आ + √पद् (दिवादि०), लट् प्रथम० एक० ।

शा०भा०—न साम्परायः प्रतिभाति । सम्पर ईयत इति सम्परायः परलोकस्तत्प्राप्तिप्रयोजनः साधनविशेषः शास्त्रीयः साम्परायः । स च बालमविवेकिनं प्रति न प्रतिभाति न प्रकाशते नोपतिष्ठत इत्येतत् । प्रमाद्यन्तम् प्रमादं कुर्वन्तं पुत्रपश्वादिप्रयोजनेष्वासक्तमनसं तथा वित्तमोहेन वित्तनिमित्तेनाविवेकेन मूढं तमसाच्छन्नं सन्तम् । अयमेव लोको योऽयं दृश्यमानः स्त्र्यन्नपानादिविशिष्टो नास्ति परोऽदृष्टो लोक इत्येवं मननशीलो मानी पुनः पुनर्जनित्वा वशं मदधीनतामापद्यते मे मृत्योर्मम । जननमरणादिलक्षणदुःखप्रबन्धारूढ एव भवतीत्यर्थः । प्रायेणैवंविध एव लोकः ॥ ६ ॥

पौर्वापर्य०—अगले मन्त्र ७ में यम नचिकेता से आत्मज्ञान की दुर्लभता का वर्णन करते हैं:—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-
श्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥७॥

अन्वय—यः बहुभिः श्रवणाय अपि न लभ्यः, बहवः श्रृण्वन्तः अपि यम् न विद्युः, अस्य वक्ता आश्चर्यः, लब्धा कुशलः, कुशलानुशिष्टः ज्ञाता आश्चर्यः।

अर्थ—जो (आत्मा) बहुतो को सुनने के लिये भी प्राप्य नहीं है, जिसे सुनते हुये भी बहुत से जान नहीं पाते हैं, (ऐसे) इस (आत्मा) का निरूपण करने वाला कोई आश्चर्य रूप ही होता है, इसको प्राप्त करने वाला (भी) कोई निपुण पुरुष (ही) होता है, तथा कुशल आचार्य द्वारा उपदिष्ट ज्ञाता भी आश्चर्य रूप होता है।

विशेष—लभ्यः-√लभ्+यत्। **शृण्वन्तः**—√श्रु+शतृ, पुं०प्रथमा बहु०। **विद्युः**—√विद् ज्ञाने (अदादि) विधिलिङ् प्रथम० बहु०। **कुशलानुशिष्टः**—कुशलेन अनुशिष्टः (अनु+√शास्+क्त-कित् प्रत्यय लगने पर शास् को शिष् हो जाता है) कुशलानुशिष्टः (तृ० तत्पु०)। **वक्ता**-√वच्+तृच् कर्तरि, पुं० प्रथमा एक०। **लब्धा**-√लभ्+तृच् पुं०प्रथमा एक०। ज्ञाता-√ज्ञा+तृच्, पुं० प्रथमा एक०।

शा०भा०—श्रवणायापि श्रवणार्थं श्रोतुमपि यो न लभ्य आत्मा बहुभिरनेकैः, शृण्वन्तोऽपि बहवोऽनेकेऽन्ये यमात्मानं न विद्युर्न विदन्ति अभागिनोऽसंस्कृतात्मानो न विजानीयुः। किं चास्य वक्तापि आश्चर्योऽद्भुतवदेवानेकेषु कश्चिदेव भवति। तथा श्रुत्वाप्यस्य आत्मनः कुशलो निपुण एवानेकेषु लब्धा कश्चिदेव भवति। यस्माद् आश्चर्यो ज्ञाता कश्चिदेव कुशलानुशिष्टः कुशलेन निपुणेन आचार्येणानुशिष्टः सन्॥ ७॥

पौर्वापर्य—८-९ मन्त्रों में यम नचिकेता से आत्मज्ञान की दुर्लभता का कारण बताते हुये कहते हैं :—

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति
अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥८॥

अन्वय—बहुधा चिन्त्यमानः एषः अवरेण नरेण प्रोक्तः न सुविज्ञेयः, अनन्य-प्रोक्ते अत्र गतिः न अस्ति, अणुप्रमाणात् अणीयान् अतर्क्यम् हि।

अर्थ—(अस्ति-नास्ति, कर्त्ता-अकर्त्ता इत्यादि) अनेक प्रकार से (वादियों द्वारा) विचारित आत्मा तुच्छ या प्राकृत जन के द्वारा उपदिष्ट होने पर अच्छी तरह नहीं जाना जा सकता। किसी अभेददर्शी आचार्य के द्वारा उपदिष्ट इसके विषय में विविध विकल्प अवशिष्ट नहीं रह जाते। क्योंकि यह सूक्ष्म परिमाण वालों से भी सूक्ष्मतर अतश्च तर्क से परे है।

विशेष—(i) इस मन्त्र के पूर्वार्ध का एक और भी (अपेक्षाकृत सीधा) अर्थ यह हो सकता है:—तुच्छ या प्राकृत व्यक्ति के द्वारा उपदिष्ट हुआ यह आत्मा अनेकशः चिन्तित-विचारित होकर भी अच्छी प्रकार से विज्ञात नहीं हो पाता, अर्थात् श्रुतज्ञान विज्ञान—साक्षात्कारात्मक ज्ञान, अनुभव—नहीं बन पाता।

(ii) अवरेण–न वरः अवरः (नञ्तत्पुरुष) तेन। प्रोक्तः–प्र + √वच् + क्त (प्रकर्षेणउक्त इति प्रोक्तः-प्रादि०) सुविज्ञेयः–सु + वि + √ज्ञा + यत् (सुष्ठु विज्ञेय-इति)। चिन्त्यमानः–√चिन्त + यक् कर्मणि + शानच्। अनन्यप्रोक्ते–अविद्यमानः अन्य यस्मात् सः अनन्यः (बहुव्रीहि०)। 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' वार्तिक के अनुसार यह समास बना है। इसका अर्थ यह है कि नञ् के साथ अस्त्यर्थक अस्, भू, विद् सत्तार्थक (दिवादि०) इत्यादि—धातुओं से बने कृदन्तों के समर्थ सुबन्तों के साथ बहुव्रीहि समास बनते हैं, और विकल्प से कृदन्तों का लोप भी हो जाता है। 'अविद्यमानः' ऐसा ही कृदन्त शब्द है। 'विद्यमान' का लोप होने पर अ + अन्यः रहेगा। फिर 'तस्मान्नुडचि' सूत्र से अजादि उत्तरपद 'अन्यः' को नुट् का आगम होने पर अन् अन्यः = अनन्यः निष्पन्न होगा। लोप न होने पर 'अविद्यमा-नान्यः' समास बनेगा। अनन्येन प्रोक्तः अनन्यप्रोक्तः (तृ० तत्पु०), तेन। अणीयान्–अणु + ईयसुन्, पुँ० प्रथमा एक०। 'अणु' के उकार का लोप होकर अण् + ईयस् = 'अणीयस्' प्रातिपदिक बनता है। अतर्क्यम्–न तर्क्यम् (√तर्क् + यत्) नञ्तत्पुरुषः। यहाँ लिङ्ग-विपरिणाम करके 'अतर्क्यः' ग्रहणीय है क्योंकि यह एषः का विशेषण है। अणुप्रमाणात्—अणु प्रमाणं यस्य सः (बहु०), तस्मात्।

शां०भा०—न हि नरेण मनुष्येणावरेण प्रोक्तोऽवरेण हीनेन प्राकृतबुद्धिना इत्येतदुक्त एष आत्मा यं त्वं मां पृच्छसि। न हि सुष्ठु सम्यग्विज्ञेयो विज्ञातुं शक्यो, यस्माद् बहुधास्ति-नास्ति कर्ताकर्ता शुद्धोऽशुद्ध इत्याद्यनेकधा चिन्त्यमानो वादिभिः।

कथं पुनः सुविज्ञेय इत्युच्यते—अनन्यप्रोक्तेऽनन्येन अपृथग्दर्शिना आचार्येण प्रतिपाद्यब्रह्मात्मभूतेन प्रोक्त उक्त आत्मनि गतिरनेकधास्ति नास्तीत्यादिलक्षणा चिन्ता गतिरत्रास्मिन् आत्मनि नास्ति न विद्यते सर्वविकल्पगतिप्रत्यस्तमितत्वादात्मनः।

अथवा स्वात्मभूतेऽनन्यस्मिन् आत्मनि प्रोक्तेऽनन्यप्रोक्ते गतिः अत्रान्याव-गतिर्नास्ति ज्ञेयस्यान्यस्य अभावात्। ज्ञानस्य ह्येषा परा निष्ठा यदात्मैकत्वविज्ञानम्। अतोऽवगन्तव्याभावान्न गतिः अत्रावशिष्यते। संसारगतिर्वात्र नास्त्यनन्य आत्मनि प्रोक्ते नान्तरीयकत्वात्तद्विज्ञानफलस्य मोक्षस्य।

अथवा प्रोच्यमानब्रह्मात्मभूतेनाचार्येण प्रोक्त आत्मनि अगतिरनवबोधोऽप रिज्ञानम् अत्र नास्ति। भवत्येवावगतिस्तद्विषया श्रोतुस्तदस्म्यहमित्याचार्यस्येवे त्यर्थः।

एवं सुविज्ञेय आत्मा आगमवता आचार्येणानन्यतया प्रोक्तः। इतरथा ह्यणीयानणुप्रमाणादपि सम्पद्यत आत्मा। अतर्क्यमतर्क्यः स्वबुद्ध्याभ्यूहेन केवलेन तर्केण तर्क्यमाणेऽणुपरिमाणे केनचित् स्थापित आत्मनि ततो ह्यणुतरम् अन्योऽभ्यूहति ततोऽप्यन्योऽणुतममिति न हि कुतर्कस्य निष्ठा क्वचिद्विद्यते॥ ८॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि
त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा॥९॥

अन्वय—प्रेष्ठ! सुज्ञानाय अन्येन एव प्रोक्ता एषा मति याम् त्वम् आपः तर्केण न आपनेया; बत सत्यधृतिः असि:, नचिकेतः! त्वादृक् प्रष्टा नः भूयात्।

अर्थ—हे प्रेष्ठ! (आत्मा के) सम्यक् ज्ञान के लिए (तार्किक से भिन्न) किसी दूसरे (अनन्य आचार्य) के द्वारा ही उपदिष्ट यह बुद्धि, जिसे तुम प्राप्त हुए हो, तर्क द्वारा नहीं प्राप्त की जा सकती। हर्ष है कि तुम सत्य सङ्कल्प (धारणा) वाले हो। हे नचिकेता! तुम जैसा ही प्रश्नकर्ता हमें प्राप्त हो।

विशेष–(i) अनन्यप्रोक्तेगतिरत्र नास्ति, प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय— दोनों ही पंक्तियों का तात्पर्य एक सा है। पूर्व पंक्ति में यह बात स्पष्ट कही गई है कि अभेददर्शी अर्थात् ब्रह्मात्मैक्यानुभवी गुरु ही सही-समर्थ आत्मतत्त्वोपदेष्टा होता है क्योंकि उसी के द्वारा उपदिष्ट होने पर अतर्क्य अतएव दुर्विज्ञेय आत्मा के विषय में शुश्रूषु शिष्य सन्देह-रहित हो पाता है। 'अन्येनैव प्रोक्ता' का तात्पर्य है 'शुष्क तार्किक से भिन्न ज्ञानी

पुरुष के द्वारा उपदिष्ट आत्म-विषयिणी मति'। यह 'अन्य' पूर्व मन्त्र के 'अनन्य' की ओर ही संकेत करता है। तार्किक तो प्रायः वितण्डा आदि के द्वारा विषय को सुलझाने के बजाय उलझाते ही हैं।

(ii) आपनेया—यदि इस शब्द का भाष्यकार-कृत 'प्रापणीया'—'प्राप्त होने योग्य' अर्थ लिया जाय, तब तो इसका व्याकरण होगा √आप्+अनीयर्+टाप्, यद्यपि इससे 'आपनेय' न बनकर 'आपनीय' बनना चाहिये। ऐसी स्थिति में एक मात्र गति यही है कि इसे वैदिक या आर्ष प्रयोग माना जाय। दूसरी गति यह हो सकती है कि इसे आप्लृ (आप्) धातु से निष्पन्न न मानकर नी धातु से निष्पन्न माना जाय–आ+अप+√नी+यत्। तब इसका अर्थ 'दूर करने योग्य, काटने योग्य' होगा। फिर मन्त्र के पूर्वार्ध का अर्थ इस प्रकार होगा—'हे प्रेष्ठ! सम्यक् ज्ञान में परिणत होने वाली अवर से भिन्न किसी श्रेष्ठ आचार्य द्वारा दी गई यह आत्म-विषयिणी मति, जिसे तुमने प्राप्त किया है, शुष्क तर्कादि से खण्डित होने देने योग्य नहीं है'। सुज्ञानाय—सु सुन्दरं ज्ञानं सुज्ञानं (प्रादि०), तस्मै। इस स्थल में 'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या' से चतुर्थी का प्रयोग हुआ है। प्रेष्ठ--सम्बोधन पद। इसकी व्युत्पत्ति के लिये पीछे १-२-१ मन्त्र के 'प्रेयस्' शब्द की टिप्पणी द्रष्टव्य है। इसके खण्ड हैं–प्रिय+इष्ठन्। आप–√आप्+लुङ्, मध्यम एक०। सत्यधृतिः—सत्या धृतिर्यस्य सः (बहुव्रीहि०)। त्वादृक—युष्मद्+√दृश्+क्विन्, पुं० प्रथमा एक०। इस शब्द के लिये १.१.२२ के विशेष में दी गई टिप्पणी द्रष्टव्य है। भूयात् –√भू+आशीर्लिङ् प्रथम० एक०। प्रष्टा—√प्रच्छ्+तृच् कर्तरि, पुं० प्रथमा एक०।

शा०भा०—अतोऽनन्यप्रोक्त आत्मनि उत्पन्ना येयमागमप्रतिपाद्यात्ममतिर्नैषा तर्केण स्वबुद्ध्यभ्यूहमात्रेणापनेया न प्रापणीयेत्यर्थः। नापनेतव्या वा न हातव्या तार्किको ह्यनागमज्ञः स्वबुद्धिपरिकल्पितं यत्किञ्चिदेव कथयति। अत एव च येयमागम-प्रभूता मतिरन्येनैवागमाभिज्ञेन आचार्येणैव तार्किकात्प्रोक्ता सती सुज्ञानाय भवति हे प्रेष्ठ प्रियतम। का पुनः सा तर्कागम्या मतिरित्युच्यते–यां त्वं मतिं मद्वरप्रदानेन आपः प्राप्तवानसि। सत्यावितथविषया धृतिर्यस्य तव स त्वं सत्यधृतिर्बतासीत्यनुकम्पयन्नाह मृत्युर्नचिकेतसं वक्ष्यमाणविज्ञानस्तुतये। त्वादृक्त्वत्तुल्यो नः अस्मभ्यं भूयाद् भवताद् भवत्वन्यः पुत्रः शिष्यो वा प्रष्टा; कीदृग्यादृक्त्वं हे नचिकेतः प्रष्टा॥ ९॥

पौर्वापर्य०—दशवें मन्त्र में यमराज अनित्य पदार्थों या साधनों के द्वारा नित्य आत्मतत्त्व की प्राप्ति का निषेध करते हैं:—

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्नि-
रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥१०॥

अन्वय—शेवधिः अनित्यम् इति अहम् जानामि, अध्रुवैः तत् ध्रुवं न हि प्राप्यते, ततः मया नाचिकेतः अग्निः चितः, अनित्यैः द्रव्यैः नित्यम् प्राप्तवान् अस्मि।

अर्थ—(कर्मफलरूप) निधि अनित्य है, यह मैं जानता हूँ। नित्य आत्मतत्त्व अनित्य साधनों से निश्चित ही नहीं प्राप्त होता। तथापि मेरे द्वारा नाचिकेत अग्नि (जिसका मैंने अभी तुम्हें उपदेश दिया है) चयन किया गया। (जिसके परिणामस्वरूप सांसारिक) अनित्य साधनों से (आपेक्षिक) नित्य स्थान (यमलोक, स्वर्ग) को प्राप्त हुआ हूँ।

विशेष—(i) मन्त्र का जो अर्थ ऊपर दिया गया है, वह शाङ्करभाष्यानुसारी है। मन्त्र के पूर्वार्ध में कथित तथ्य के साथ उत्तरार्ध में कथित तथ्य का स्पष्ट विरोध है। पूर्व में यह कहकर कि अनित्य साधनों से नित्य साध्य या फल की प्राप्ति नहीं होती, उत्तरार्ध में यह कहना कि मैंने तो नाचिकेत अग्नि का चयन किया और उस अनित्य अग्नि-चयन कर्म एवं तदर्थ अपेक्षित चरु इत्यादि अनित्य द्रव्यों से नित्य पद या स्थान की प्राप्ति कर ली, सर्वथा वदतोव्याघात या स्वकथन-विरोध उपस्थित करता है। इसी से भाष्यकार को विवश होकर 'नित्य' का अर्थ 'आपेक्षिक नित्य' लेना पड़ा। अग्निचयन अर्थात् यज्ञ-कर्म तो श्रुतियों में स्वर्ग का साधन अनेकशः कहा ही गया है और स्वर्ग के अनित्य होने की प्रसिद्धि है ही। गीता में भी तो उपनिषदों के इस सिद्धान्त का कथन है-'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते। ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥ ते तं भुक्त्वा स्वर्ग-लोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'॥

अब प्रश्न यह है कि आत्मज्ञानी होकर भी यमराज ने अपने यमत्व की प्राप्ति से पूर्व कर्म-परित्याग क्यों नहीं किया जिससे सर्वथा शुद्ध आत्मज्ञान से सर्वथा नित्य आत्मा की प्राप्ति हो जाती? इसके उत्तर का प्रथमतः तो प्रयास कम ही हुआ एवं जो एक-दो हुये भी वे ठीक नहीं कहे जा सकते। इसका एक उदाहरण प्रस्तुत है- "जीवन्मुक्त रहकर मनुष्यादि को उनके कर्मानुकूल फल (मृत्यु) देकर उनपर शासन करके कर्तव्य पालन करना ही स्वयं को श्रेयस्कर लगने से यम ने नाचिकेताग्नि का चयन किया, न कि अज्ञान से उद्भूत भोगलिप्सा के कारण"। इस समाधान की

अपार्थकता सुस्पष्ट है। जीवन्मुक्त का पुनर्जन्म, फिर वह चाहे यम, इन्द्र या किसी अन्य देव के रूप में जन्मे, वेदान्त-विरुद्ध होने से अपसिद्धान्त है। इसी प्रकार जीवन्मुक्त के कर्तव्यों की बात भी अपसिद्धान्त ही है, उसके लिये तो कुछ भी करणीय अवशिष्ट नहीं रहता। इस प्रकार से तो सभी देवों, कम से कम उनमें से प्रमुख को अवश्यमेव, जीवन्मुक्त मानना होगा, जबकि औपनिषद सिद्धान्त यह है कि ज्ञान के साथ कर्म में आस्था बनी रहने के कारण उच्च ज्ञान कर्म-समुच्चय से ऐन्द्र, याम्य आदि, और यहाँ तक कि देवों में सर्वोच्च ब्राह्म पद भी प्राप्त होता है और अधिकार समाप्त होने पर ही ब्रह्मा मुक्त होते हैं। इन्द्र आदि के तपश्चरण-पूर्वक प्रजापति से तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की भी चर्चा उपनिषदों में हुई है। ऐसी वस्तु-स्थिति में पूर्व उठाये गये प्रश्न का यही समाधान है कि आत्मा का श्रुत ज्ञान होने पर भी साक्षात्कार न होने से यम को कर्म तथा उसके उच्चतम फल के सम्बन्ध में यत्किंचित् मोह बना रह गया था जिसके कारण वे पूर्व जन्म में अन्त तक उच्चतम कर्म (यज्ञ) करते रहे थे और उसी के फलस्वरूप उन्हें वर्तमान याम्य पद प्राप्त हुआ जो मानव-जीवन की तुलना में लाखों गुना स्थायी होने के कारण मन्त्र में 'नित्य' कहा गया है पर है वह भी अन्ततः विनाशी ही।

अगले मन्त्र में उच्चतम श्रौत कर्मों के 'एवंविध' फल का स्पष्ट उल्लेख है, और उसका दुष्कर त्याग, जो यम स्वयं नहीं कर सके थे, कर सकने के कारण नचिकेता के त्याग की प्रशंसा भी।

शा० भा०—पुनरपि तुष्ट आह--जानाम्यहं शेवधिर्निधिः कर्मफललक्षणो निधिरिव प्रार्थ्यत इति। असावनित्यमनित्य इति जानामि। न हि यस्मादनित्यैः अध्रुवैर्नित्यं ध्रुवं तत्प्राप्यते परमात्माख्यः शेवधिः। यस्त्वनित्यसुखात्मकः शेवधिः स एवानित्यैर्द्रव्यैः प्राप्यते।

हि यतस्ततस्तस्मान्मया जानतापि नित्यमनित्यसाधनैर्न प्राप्यत इतिनाचिकेतश्चितोऽग्निः। अनित्यैर्द्रव्यैः पश्वादिभिः स्वर्गसुखसाधनभूतोऽग्निर्निर्वर्तित इत्यर्थः। तेनाहमधिकारापन्नो नित्यं याम्यं स्थानं स्वर्गाख्यं नित्यमापेक्षिकं प्राप्तवानस्मि ॥ १० ॥

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां
क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा
धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥११॥

अन्वय—(हे) नचिकेतः! धीरः (त्वम्) कामस्य आप्तिं, जगतः प्रतिष्ठां,

क्रतोः अनन्त्यम्, अभयस्य पारं, स्तोममहत् उरुगायं, प्रतिष्ठां (च) दृष्ट्वा धृत्या अत्यस्राक्षीः ।

अर्थ—हे नचिकेता ! बुद्धिमान् तुमने यज्ञ के अनन्त फल रूप हिरण्यगर्भ-पद मे भोगों की समाप्ति, जगत् का आश्रय (आधार), अभय की परम सीमा, स्तुत्य और महती (अणिमादियुक्त) विस्तीर्ण गति तथा उत्तम स्थिति को देखकर (भी) धैर्य से (उसका) परित्याग कर दिया ।

विशेष—(i) आप्तिम्—√आप्+क्तिन्, द्वि० एक० । प्रतिष्ठाम्—प्र + √स्था +अङ् अधिकरणे + टाप्, द्वि० एक० (प्रतितिष्ठति अस्यामिति प्रतिष्ठा आश्रयः आधारऽस्त्यर्थः) । **अनन्त्यम्**—अनन्त+ष्यञ् भावे । 'आनन्त्यम्' के स्थान में '**अनन्त्यम्**' वैदिक स्वर-ह्रस्वता का उदाहरण है । पारम्—परमां सीमां, परमां काष्ठाम् । **स्तोममहत्**– स्तोमं च महत् चेति सौममहत्, विशेषणोभयपद कर्मधारय० । **उरुगायम्**–उरुः (महान्) गायः (गतिः) इति, तम् (विशेषणपूर्वपद कर्मधारय०) । **प्रतिष्ठाम्**—प्रति+√स्था+अङ् भावे+टाप्, द्वि० एक० (प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा उत्कृष्टा उत्तमा वा स्थितिः) । **अत्यस्राक्षीः**—अति+√सृज्+लुङ्, मध्यम० एक० ।

(ii) कर्म-ज्ञान-समुच्चय से प्राप्तव्य सर्वाधिक ऊँचा पद हिरण्यगर्भ का है । क्रतु या यज्ञ का जो सर्वोच्च फल है, वह हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) के पद की प्राप्ति है । इसी का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में है । और इसके माहात्म्य-वर्णन के द्वारा वैदिक यज्ञ-यागादि के महत्त्व का ही वर्णन इसमें यमराज ने प्रस्तुत किया है । इसे पाकर सारी इच्छायें समाप्त हो जाती हैं । मुण्डक० १।२।११ की 'स पुरुषो ह्यव्ययात्मा' पंक्ति के शा० भा० से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है:—'स पुरुषः प्रथमजो हिरण्यगर्भो ह्यव्ययात्म यावत्संसारस्थायी । एतदन्तास्तु संसारगतयोऽपरविद्यागम्याः' ।

शा०भा०—त्वं तु कामस्याप्तिं समाप्तिम्, अत्रैवेहैव सर्वे कामाः परिसमाप्ताः, जगतः साध्यात्माधिभूताधिदैवादेः प्रतिष्ठामाश्रयं सर्वात्मकत्वात्, क्रतोः फलं हैरण्यगर्भं पदमनन्त्यमानन्त्यम्, अभयस्य च पारं परां निष्ठाम्, स्तोमं स्तुत्यं महदणिमाद्यैश्वर्याद्यनेकगुणसंहतं स्तोमं च तन्महच्च निरतिशयत्वात्स्तोममहत् उरुगायं विस्तीर्णां गतिम्, प्रतिष्ठां स्थितिमात्मनोऽनुत्तमामपि दृष्ट्वा धृत्या धैर्येण धीरोः धीमान्सन् नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः परमेव आकाङ्क्षन्नतिसृष्टवानसि सर्वम् एतत् संसार-भोगजातम् । अहो बतानुत्तमगुणोऽसि ।। ११ ।।

पौर्वापर्य०—अगले मन्त्र में यमराज नचिकेता को आत्मा की प्राप्ति के स्थान, साधन और फल के विषय में बता रहे हैं:—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।।१२।।

अन्वय—धीराः तं दुर्दर्शं गूढम् अनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणं देवं अध्यात्मयोगाधिगमेन मत्वा हर्षशोकौ जहाति ।

अर्थ—धीर पुरुष कठिनता से दीख पड़ने वाले, गूढ स्थान में प्रविष्ट, बुद्धि और विशेषतः उसके गर्त (गहरे स्थान) में स्थित उस पुरातन देव को आत्म-विषयक चित्तैकाग्र्य की प्राप्ति के द्वारा जानकर हर्ष और शोक को त्याग देता है । अर्थात् उससे परे हो जाता है ।

विशेष—(i) जो तथ्य 'गुहाहितं गह्वरेष्ठम्' में उद्घाटित है, वही १।३।१ मन्त्र के 'गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे' इस द्वितीय चरण में भी प्रकट किया गया है । ब्रह्म तत्त्व को अपने में छिपा रखने के कारण हृदय (बुद्धि) गुहा है, उसमें 'पर' अर्थात् ब्रह्म का 'अर्ध' अर्थात् स्थान है जहाँ ब्रह्म रहता है । मुण्डक २।२।७ में भी इसे सुस्पष्ट कहा गया है: —'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि । दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योमन्यात्मा प्रतिष्ठितः' । इस पर शङ्कराचार्य का भाष्य इस प्रकार है:—दिव्ये द्योतनवति सर्वबौद्धप्रत्ययकृतद्योतने ब्रह्मपुरे, ब्रह्मणोऽत्र चैतन्यरूपेण नित्याभिव्यक्तत्वात् । ब्रह्मणः पुरं हृदयपुंडरीकं, तस्मिन् यद् व्योम, तस्मिन् व्योमनि आकाशे हृत्पुण्डरीकमध्यस्थे प्रतिष्ठित इवोपलभ्यते । नहि आकाशवत् सर्वगतस्य गतिरागतिः प्रतिष्ठा वान्यथा सम्भवति' । शङ्कराचार्य ने श्रुति-वाक्य का अर्थ स्पष्ट करने के अतिरिक्त एक और भी महत्त्व की बात कही है जो उसके तात्पर्य पर प्रकाश डालती है । उन्होंने श्रुति के 'प्रतिष्ठितः' शब्द की व्याख्या की है–'प्रतिष्ठितः इव' 'और 'इव' जोड़ने का रहस्य उसके बाद की पंक्ति में उद्घटित किया है जिसमें कहा है कि वस्तुतः तो आत्मा आकाशवत् विभु है और विभु की स्थान-विशेष में स्थिति अथवा उसका आना-जाना सम्भव ही नहीं है। अतः श्रुति के 'प्रतिष्ठित' शब्द का अर्थ 'प्रतिष्ठित इव' लेना चाहिये । अर्थात् वह हार्दाकाश में वस्तुतः स्थित नहीं है । फिर प्रश्न यह उठता है कि तब किस कारण से श्रुति ने 'प्रतिष्ठितः' या 'गुहाहितः' कहा ? श्वेताश्वतर में भी 'तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशम्' (आत्मबुद्धौ प्रकाशते इति आत्मबुद्धिप्रकाशस्तम्–शा० भा०) इत्यादि प्रकार से आत्मा को बुद्धि में प्रकाशित या प्रतिष्ठित कहा है । इसका समाधान भाष्यकार ने कठ

के प्रस्तुत मन्त्र के भाष्य में बड़े संक्षेप मे किन्तु बड़े स्पष्ट ढंग से किया है:—'गहाहितं गुहायां बुद्धौ स्थितं तत्रोपलभ्यमानत्वात्'। उनका कहना है कि हार्दाकाश में उस आत्मतत्त्व को स्थित इस कारण से कहा कि वहाँ चित्त का समाधान करने से क्रमशः उसके स्वरूप की उपलब्धि होने लगती है। यह तो गूढ साधना का विषय है और भाष्यकार-जैसे आत्मानुभवी ही अपने अनुभव के आधार पर श्रुतियों में अनेकशः कथित इस तथ्य का वास्तविक तात्पर्य बताने के अधिकारी हैं। जिस चित्त-समाधान से हार्दाकाश में आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, उसे यम ने भी 'अध्यात्मयोगाधिगमेन' पद के द्वारा कहा है जिसकी व्याख्या शङ्कराचार्य ने इस प्रकार की है:—'विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य चेतस आत्मनि समाधानम् अध्यात्मयोगस्तस्याधिगमेन'। वस्तुतः परमातिपरम सूक्ष्म–'पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः' (कठ० १।३।११)—होने के कारण आत्मा की उपलब्धि बिखरे चित्त से हो नहीं सकती। तदर्थ उसका समाधान करना ही होगा और समाहित–केन्द्रित–होकर ही वह सूक्ष्म का ग्रहण करने में समर्थ होता है–'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' (कठ० १।३।१२)। जब गणित, भौतिकी, ज्योतिष इत्यादि व्यावहारिक विद्याओं के सूक्ष्म सिद्धान्तों को समझने के लिये केन्द्रित चित्त की आवश्यकता होती है अन्यथा कुछ भी पल्ले नहीं पड़ता, तो फिर इन सबसे अनेक गुना सूक्ष्म–'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः तदानन्त्याय कल्पते'–आत्मतत्त्व के ग्रहण या बोध के लिये तो चित्त को सहस्रों गुना समाहित-केन्द्रित होना होगा।

(ii) **दुर्दर्शम्**—दुर् + √दृश् + खल् (अ)। **गूढम्**—√गुह् + क्त, तम्। **गुहाहितम्**—गुहायाम् आहितः (आ + √धा + क्त–'दधातेर्हि, सूत्र से धाके स्थान में 'हि' आदेश) गुहहितिः, तम्। **गह्वरेष्ठम्**—गह्वरे तिष्ठतीति गह्वरेष्ठः (गह्वरे + √स्था + कः कर्तरि–अलुक् तत्पु०) तम्। **पुराणम्**—पुरा + ट्यु (अन) र के कारण न को 'रषाभ्यां नो णः समान पदे' से ण हो गया। **अध्यात्मयोगाधिगमे**—आत्मनीति अध्यात्मम् (अधि + आत्मन् + टच्)। इसका अर्थ है आत्मा के विषय में। अध्यात्म योगः अध्यात्मयोग (आत्मविषयक चित्तैकाग्रयम् इत्यर्थ), सुप्सुपासमास। तस्य अधिगमः प्राप्तिरिति अध्यात्मयोगाधिगमः (षष्ठी तत्पु०), तेन।

शा०भा०—तं दुर्दर्शं दुःखेन दर्शनमस्येति दुर्दर्शोऽतिसूक्ष्मत्वात् गूढं गहनमनुप्रविष्टं प्राकृतविषयविकारविज्ञानैः प्रच्छन्नमित्येतत्, गुहाहितं गुहायां बुद्धौ स्थितं तत्रोपलभ्यमानत्वात् गह्वरेष्ठं गह्वरे विषमेऽनेकानर्थसंकटे तिष्ठतीति गह्वरेष्ठम्। यत एवं गूढमनुप्रविष्टो गुहाहितश्चातो गह्वरेष्ठः अतो दुर्दर्शः। तं पुराणं पुरातन-

मध्यात्मयोगाधिगमेन विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य चेतस आत्मनि समाधानम् अध्यात्मयोग-स्तस्याधिगमस्तेन मत्वा देवमात्मानं धीरो हर्षशोकावात्मन उत्कर्षापकर्षयोः अभावाज् जहाति ॥ १२ ॥

पौर्वापर्य०—जिस अध्यात्मयोग से आत्मज्ञान और उससे शोकादि से मुक्ति की बात नचिकेता से यम ने कही, वह कैसे प्राप्त किया जाय, इसे वे १३वें मन्त्र में बता रहे हैं :—

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः
प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।
स मोदते मोदनीयँ हि लब्ध्वा
विवृतँ सद्म नचिकेतसं मन्ये ।।१३।।

अन्वय—सः मर्त्यः एतत् श्रुत्वा संपरिगृह्य, धर्म्यम् प्रवृह्य अणुम् एतम् आप्य मोदनीयम् हि लब्ध्वा मोदते, नचिकेतसम् (प्रति) सद्म विवृतम् मन्ये ।

अर्थ—मनुष्य इस आत्मतत्त्व को सुनकर और (आचार्य के अनुग्रह से) भली-भाँति समझकर, (शरीर-इन्द्रियादि के) धर्मों से युक्त (मैं मोटा हूँ, मैं दुर्बल हूँ, मैं देखता हूँ सुनता हूँ इत्यादि) रूप में ज्ञात होने वाले इसको उनसे पृथक् करके सूक्ष्म (केवली) तथा आनन्द रूप में प्राप्त करने से आनन्दित हो जाता है । तुझ नचिकेता के लिये ब्रह्म-लोक खुला है, ऐसा मैं समझता हूँ ।

विशेष—(i) यह मन्त्र आत्म-प्राप्ति के साधन बताने की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । अध्यात्म-योग से आत्म-ज्ञान और उससे आत्म-प्राप्ति होती है, यह सुविदित है । किन्तु अध्यात्म-योग हो कैसे, यह बड़ा विषम प्रश्न है । इसी को संक्षेप किन्तु स्पष्ट रूप से यम ने इस मन्त्र में बताया है । यह तो स्पष्ट ही है कि आत्मा के स्वरूप पर चित्त को एकाग्र या समाहित करने के पूर्व उस स्वरूप का ज्ञान होना आवश्यक है । इसी के लिये 'श्रुत्वा' कहा अर्थात् किसी अभेद-दर्शी ब्रह्मनिष्ठ आचार्य से पहले 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इत्यादि में प्रतिपादित विधि से उसके वास्तविक रूप को सुने और समझे (संपरिगृह्य) 'मनन' करे, ताकि शरीर-इन्द्रियादि के धर्मों से युक्त जो उसका रूप प्रतीत होता है, उससे उसको 'प्रवृह्य' अर्थात् अलग करके जो उसका धर्मरहित, सूक्ष्म एवं शुद्ध आनन्द-रूप है, उसे साधक जान सके । फिर आत्मा के इसी केवली या शुद्ध रूप पर अहर्निश चित्त को लगाये-आत्मयोग करे—जिससे उसका साक्षात्कारात्मक ज्ञान अर्थात् अपरोक्षानुभूति हो

सके। उसका इस प्रकार का अनुभवात्मक ज्ञान ही उसकी प्राप्ति है, क्योंकि जीव का अपना स्वरूप तो सदा से ही प्राप्त है, उसे कोई क्या प्राप्त करेगा, केवल उसे माया-वश, अज्ञान् वश—भूला हुआ है, वही भूल समाप्त करके स्वरूपत: उसे जान ले, काम बन जाय, सारे अनर्थों से छुट्टी मिल जाय, जैसा कि पिछले मन्त्र के 'मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' इस चतुर्थ चरण में यम ने स्पष्ट कर दिया है। आगे भी २.३.१७ में आत्मा को शरीरादि से पृथक् करने की बात यम ने इस प्रकार दोहराई है :—

"अङ्गुष्ठमात्र: पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्ट:। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥"
इससे साधना मे इस पृथक्करण रूप सोपान का अत्यधिक महत्व स्वत: सुस्पष्ट है। फिर यह मन्त्र सिद्धान्त-प्रतिपादक अन्तिम मन्त्र भी है कठोपनिषद् का। इसका तात्पर्य यह है कि अध्यात्म-विद्या के परम गुरु यमराज को यह बात सर्वथा अभिप्रेत है कि आत्मा के श्रवण की पूर्ण सार्थकता तभी है जब साधक तदनुरूप उस स्वरूप को शरीरेन्द्रियादि-संघात से अलग करे क्योंकि अनित्यों से अलग करके ही उसकी नित्यता का अनुभव करके साधक मृत्यु के भय से मुक्त हो सकेगा, नान्यथा।

(ii) सम्परिगृह्य—सम् + परि + √ग्रह् + क्त्वा → ल्यप्। प्रवृह्य—प्र + √वृह् उद्यमने (तुदादि०) + क्त्वा → ल्यप्। धर्म्यम्-धर्म + यत्। आप्य—आ + √आप्लृ + क्त्वा → ल्यप्। मोदनीयम्—√मुद् हर्षे (भ्वादि०) + अनीयर्। 'कृत्यल्युटो बहुलम्' से यहाँ अनीयर् कर्ता-अर्थ में जुड़ा है जिससे 'मोदनीय' का अर्थ इस स्थल में 'मोदयिता'—आनन्द-स्वरूप है। विवृतम् वि + √वृञ् (तुदादि०) + क्त। सद्म—नकारान्त नपुं० शब्द है। प्रथमा तथा द्वितीया एकवचन में 'सद्म' रूप बनता है। यहाँ द्वि० एक० में प्रयुक्त है और 'मन्ये' क्रिया का कर्म है।

शा० भा०—एतदात्मतत्त्वं यदहं वक्ष्यामि तच्छ्रुत्वाचार्यप्रसादात्सम्यगात्मभावेन परिगृह्योपादाय मर्त्यो मरणधर्मा धर्मादनपेतं धर्म्यं प्रवृह्योद्यम्य पृथक्कृत्य शरीरादे: अणुं सूक्ष्ममेतमात्मानमाप्य प्राप्य स मर्त्यो विद्वान्मोदते मोदनीयं हर्षणीयमात्मानं लब्ध्वा। तदेतदेवंविधं ब्रह्मसद्म भवनं नचिकेतसं त्वां प्रत्यपावृतद्वारं विवृतमभिमुखीभूतं मन्ये मोक्षार्हं त्वां मन्य इत्यभिप्राय: ॥ १३ ॥

पौर्वापर्य—यम से इतनी बात सुनकर नचिकेता के चित्त में पूर्वत: वर्तमान आत्म-जिज्ञासा जैसे नवीकृत हो गई। अत: वह पुन: यम से अपनी जिज्ञासा इस प्रकार से प्रकट करने लगा :—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्माद्-
अन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च
यत् तत्पश्यसि तद्वद ।।१४।।

अन्वय—धर्मात् अन्यत्र, अधर्मात् अन्यत्र, अस्मात् कृताकृतात् अन्यत्र, भूतात् च भव्यात् च अन्यत्र यत् तत् पश्यसि, तत् वद ।

अर्थ—जो धर्म से पृथक्, अधर्म से पृथक् तथा इस कार्यकारण रूप प्रपञ्च से भी पृथक् है, और जो भूत एवं भविष्य (वस्तुओं) से भी भिन्न है, ऐसा आप जिसे देखते हैं उसी का मुझसे कथन करें ।

विशेष—कृताकृतात्–कृतं च अकृतं च कृताकृतम् (समाहार द्वन्द्व), तस्मात् । कृत अर्थात् कार्य, एवं अकृत अर्थात् कारण । भूतात्—√भू + क्त, पं० एक० । भव्यात्—√भू+यत्, पं०एक० । भू के ऊकार को गुण होकर अव् हो गया ।

शा०भा०—अन्यत्र धर्माच्छास्त्रीयाद् धर्मानुष्ठानात् त्फलात्तत्कारकेभ्यश्च पृथग्भूतमित्यर्थः । तथान्यत्र अधर्मात्तथान्यत्रास्मात्कृताकृतात् कृतं कार्यमकृतं कारणमस्मादन्यत्र । किं चान्यत्र भूताच्चातिक्रान्तात्कालात् भव्याच्च भविष्यतश्च तथा वर्तमानात्, कालत्रयेण यन्न परिच्छिद्यत इत्यर्थः । यद् ईदृशं वस्तु सर्वव्यवहारगोचरातीतं पश्यसि तद्वद मह्यम् ।। १४ ।।

पौर्वापर्य०—नचिकेता के प्रश्न के उत्तर में यम ॐकार का उपदेश कर रहे हैं—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदँ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।।१५।।

अन्वय—सर्वे वेदाः यत् पदम् आमनन्ति, सर्वाणि तपांसि च यत् वदन्ति, यत् इच्छन्तः ब्रह्मचर्यम् चरन्ति, तत् पदम् ते संग्रहेण ब्रवीमि, एतत् 'ओम्' इति ।

अर्थ—सारे वेद जिस पद का बार-बार वर्णन करते हैं, समस्त तपों के

जिसकी प्राप्ति के लिये (साधन) बताते हैं, जिसकी इच्छा से (मुमुक्षु) ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस पद को मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूँ। ॐ-यही वह पद है।

विशेष—आमनन्ति—आ + √म्ना अभ्यासे (भ्वादि०) + लट्०, प्रथम० बहु०। इसके रूप मनति, मनतः, मनन्ति बनते हैं। 'अभ्यास' का अर्थ है बार-बार कहना या वर्णन करना। यद्—प्रस्तुत स्थल में इसका अर्थ 'यदर्थम्' है, जैसाकि भाष्यकार शङ्कराचार्य ने 'यत्प्राप्त्यर्थानि' लिखकर स्पष्ट किया है। संग्रहेण-सम् + ग्रह् + अप्, तृ० एक० (सङ्क्षेपेण समासेन वेत्यर्थः)।

शा०भा०—सर्वे वेदा यत्पदं पदनीयं गमनीयमविभागेनामनन्ति प्रतिपादयन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यत्प्राप्त्यर्थानीत्यर्थः। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं गुरुकुलवासलक्षणमन्यद्वा ब्रह्मप्राप्त्यर्थं चरन्ति तत्ते तुभ्यं पदं यज्ज्ञातुमिच्छसि संग्रहेण संक्षेपतो ब्रवीमि। ओमित्येतत्। तदेतत्पदं यद् बुभुत्सितं त्वया। यदेतद् ओमित्योंशब्दवाच्यमोंशब्दप्रतीकं च॥ १५॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥१६॥

अन्वय—एतत् अक्षरम् एव हि ब्रह्म, एतत् एव हि परम्, एतत् अक्षरम् एव हि ज्ञात्वा यः यत् इच्छति तस्य तत् (भवति)।

अर्थ—यह अक्षर ही (अपर) ब्रह्म है, यह अक्षर ही पर (ब्रह्म) है। इस अक्षर को ही जानकर जो जिसकी इच्छा करता है, वही उसका हो जाता है।

विशेष—अक्षरम्—क्षरतीतिक्षरम् (√क्षर् + अच् कर्तरि)। न क्षरम् इति अक्षरम् (नञ् तत्पु०)। ब्रह्म—√बृह् + मनिन्। वस्तुतः ओम् परमात्मा के अनन्त नामों में सर्वश्रेष्ठ नाम है। साथ ही यह उसका प्रतीक भी है। अर्थात् इसका जप करना चाहिये, एवं इस पर ध्यान भी लगाना चाहिये। इससे उसका शीघ्र साक्षात्कार होता है। प्रतीक होने से ही यम इसे अगले मन्त्र में मन का श्रेष्ठ आलम्बन बताते हैं। अपेक्षाकृत स्थूल मन के द्वारा उससे अत्यन्त सूक्ष्म आत्मा की उपासना के लिये मन का कोई आलम्बन तो होना ही चाहिये। वह आलम्बन 'ओम्' ही तो है क्योंकि वह निर्गुण-निराकार ब्रह्म का प्रतीक है।

शा०भा०—एतद्धि एवाक्षरं ब्रह्म परमेतद्ध्येवाक्षरं परं च। तयोर्हि प्रतीक-

मेतदक्षरम् एतद्ध्येवाक्षर ज्ञात्वोपास्य ब्रह्मेति यो यदिच्छति परमपर वा तस्य तद् भवति । पर चेज्ज्ञातव्यमपर चेत्प्राप्तव्यम् ।। १६ ।।

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ।।१७।।

अन्वय—एतत् आलम्बनम् श्रेष्ठम्, एतत् आलम्बनम् परम्, एतत् आलम्बनम् ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ।

अर्थ यह ओम् ही श्रेष्ठ आलम्बन है, यही पर आलम्बन है । इस आलम्बन को जानकर पुरुष ब्रह्मलोक मे पूजित होता है ।

विशेष— **श्रेष्ठम्**-प्रशस्य+इष्ठन् । प्रशस्य के स्थान मे 'श्र' आदेश के लिये पीछे १-२-१ के अन्तर्गत 'श्रेय' शब्द की टिप्पणी द्रष्टव्य है । **आलम्बनम्** आ+ √लम्ब्+ल्युट्→अन । **महीयते**—√महीङ्+यक् लट् प्रथम०एक० । 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' ३।१।२७ से कण्ड्वादिगण की महीङ् धातु से स्वार्थ मे यक् प्रत्यय लगा है ।

शा०भा०—यत एवमत एतदालम्बनमेतद्ब्रह्मप्राप्त्यालम्बनाना श्रेष्ठ प्रशस्यतमम् । एतदालम्बन परमपर च परापरब्रह्मविषयत्वात् । एतदालम्बन ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते परस्मिन् ब्रह्मणि । अपरस्मिश्च ब्रह्मभूतो ब्रह्मवदुपास्यो भवतीत्यर्थ ।। १७ ।।

पौर्वापर्य०—जिसकी उपासना के लिये यम ने 'ओम्' को आलम्बन बताया, अब उसी का स्वरूप बता रहे हैं —

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चित् न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।१८।।

अन्वय—विपश्चित् न जायते (न) वा म्रियते अयम् कुतश्चित् न बभूव, न कश्चित् (बभूव) । अजः नित्य शाश्वत पुराण अयम् शरीरे हन्यमाने न हन्यते ।

अर्थ-मेधावी (नित्यचैतन्य स्वरूप) यह आत्मा न उत्पन्न होता है, मरता न पन्न

हैं। न तो किसी (अन्य कारण) से उत्पन्न हुआ है, और न स्वयं ही कुछ अन्य वस्तु (कार्य) हुआ है। अजन्मा, नित्य, क्षय-रहित तथा पुरातन यह आत्मा शरीर के मार जाने पर (भी) नहीं मारा जाता—मृत्यु को नहीं प्राप्त होता।

विशेष—विपश्चित्—वि+प्र+√चित्+क्विप् (विप्रकृष्टं चेततीति)। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' सूत्र के बल से प्र को पश् आदेश हो जाता है। **अजः**—नञ्+√जन्+डः कर्तरि (न जायते इति अजः—उपपदसमास)। **हन्यमाने**—√हन्+यक् कर्मणि+शानच्, स० एक०। **हन्यते**—√हन् यक् कर्मणि+लट् प्रथम० एक०।

शा०भा०—न जायते नोत्पद्यते म्रियते वा न म्रियते चोत्पत्तिमतो वस्तुनोऽनित्यस्य अनेकविक्रियाः तासामाद्यन्ते जन्मविनाशलक्षणे विक्रिये इहात्मनि प्रतिषिध्येते प्रथमं सर्वविक्रियाप्रतिषेधार्थं न जायते म्रियते वेति। विपश्चिन्मेधावी अविपरिलुप्तचैतन्यस्वभावात्। किं च नायमात्मा कुतश्चित् कारणान्तराद् बभूव। स्वस्माच्च आत्मनो न बभूव कश्चिदर्थान्तरभूतः। अतोऽयमात्माजो नित्यः शाश्वतोऽपक्षयविवर्जितः। यो ह्यशाश्वतः सोऽपक्षीयते; अयं तु शाश्वतोऽत एव पुराणः पुरापि नव एवेति। यो ह्यवयवोपचयद्वारेणाभिनिर्वर्त्यते स इदानीं नवो यथा कुम्भादिः। तद्विपरीतस्त्वात्मा पुराणो वृद्धिविवर्जित इत्यर्थः। यत एवमतो न हन्यते न हिंस्यते हन्यमाने शस्त्रादिभिः शरीरे। तत्स्थोऽप्याकाशवदेव॥ १८॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुँ हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायँ हन्ति न हन्यते ॥१९॥

अन्वय—हन्ता (आत्मानं) हन्तुं चेत् मन्यते, हतः (आत्मानं) हतं चेत् मन्यते (तर्हि) तौ उभौ न विजानीतः। अयं न हन्ति, न हन्यते।

अर्थ—यदि मारने वाला आत्मा को मारने के लिये सोचता है, और मारा जाने वाला उसे मारा हुआ समझता है, तो वे दोनों ही उसे नहीं जानते। वस्तुतः न यह मारता है और न मारा जाता है।

विशेष—(i) जैसे विभु आकाश शस्त्रादि से काटा नहीं जा सकता, उसी प्रकार विभु आत्मा भी। शरीरेन्द्रिय-संघात से तो पृथक् या परे इसे इसके पहले ही यम बता चुके हैं। अतः एक शरीर द्वारा अन्य शरीर पर किया जाने वाला प्रहार आत्मा पर स्वरूप-ज्ञान-वश आरोपित किया जाता है, न कि वह वस्तुतः हन्ता या

हन्यमान है ।

(ii)**विजानीत:**—वि + √ज्ञा + लट्,प्रथम०द्वि० । **चेत्**—यह'यदि'का पर्याय है । वाक्य के आरम्भ में इसका प्रयोग वर्जित है ।

शा०भा०—एवंभूतमप्यात्मानं शरीरमात्रात्मदृष्टिर्हन्ता चेद्यदि मन्यते चिन्तयति हन्तुं हनिष्याम्येनमिति योऽप्यन्यो हतः सोऽपि चेन्मन्यते हतमात्मानं हतोऽहमित्युभावपि तौ न विजानीतः, स्वमात्मानं यतो नायं हन्ति अविक्रियत्वादात्मनस्तथा न हन्यत आकाशवदविक्रियत्वादेव। अतोऽनात्मज्ञविषय एव धर्माधर्मादिलक्षणः संसारो न ब्रह्मज्ञस्य । श्रुतिप्रामाण्यान्न्यायाच्च धर्माधर्माद्यनुपपत्तेः ।। १६ ।।

पौर्वापर्य०—तब फिर उस आत्मा को सही-सही कैसे जाना जा सकता है ? इसका उत्तर यम अगले मन्त्र में इस प्रकार दे रहे हैः—

अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ।।२०।।

अन्वय—अणोः अणीयान् महतः महीयान् आत्मा अस्य जन्तोः गुहायाम् निहितः । अक्रतुः वीतशोकः धातुप्रसादात् आत्मनः तं महीमानम् पश्यति ।

अर्थ—यह अणु से भी अणुतर और महान् से भी महत्तर आत्मा प्राणी पुरुष) की हृदय-रूप गुहा में स्थित है । निष्काम पुरुष इन्द्रियों की निर्मलता से आत्मा की उस महिमा को देखता है और शोक-रहित हो जाता है ।

विशेष—(i) पीछे १३ वें मन्त्र के विशेष में इस मन्त्र का सारा विषय आ चुका है, अतः वहीं द्रष्टव्य है । इसमें इतनी ही बात अधिक कही गई है कि देहेन्द्रियादि-संघात से अलग करके अणीयान् आत्मा पर चित्त को एकाग्र या समाहित करने के लिये सर्वप्रथम इन्द्रियों का शमन करना होगा क्यों कि वशीभूत इन्द्रियों वाले का ही चित्त एकाग्र हो पायेगा, अन्यथा इन्द्रियों के द्वार से उनके तत्तद् शब्द-स्पर्श-रूप-रस गन्धादि विषयों तक पहुँचने को आतुर चित्त कभी भी स्थिर और शान्त नहीं हो सकता । गीता में भगवान् कृष्ण ने भी इस तथ्य को—"इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते । तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि" ।। श्लोक में स्पष्ट किया है ।

(ii) **अणीयान्** — अणु + ईयसुन्, पुं॰ प्रथमा॰ एक॰ । **महीयान्**-महत् + ईयसुन् । इसमें 'टि'-अत्-आठवें का लोप होकर मह् + ईयस् = महीयस् शब्द बनता है । **अक्रतुः**–अविद्यमानाः क्रतुः (कामाः) यस्य सः बहु॰ । पीछे ८वें मन्त्र में आये हुये 'अनन्य' की ही तरह इसकी भी सिद्धि होगी । **वीतशोकः**–वीतः (वि + √इण् गतौ + क्त) शोकः यस्य सः (बहु॰) । **धातुप्रसादात्**—धातूनां (इन्द्रियाणां) प्रसादः (प्र + √सद् + घञ्) षष्ठीतत्पु॰, तस्मात् । इसमें 'हेतौ' सूत्र से पञ्चमी विभक्ति आई है । **महिमानम्**—महत् + इमनिच्, पुं॰ द्वि॰ एक॰ । यहाँ भी 'टि' —अत्—का लोप होने से 'महिमन्' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है ।

शा॰भा॰—कथं पुनरात्मानं जानातीत्युच्यते—अणोः सूक्ष्मादणीयाञ्श्यामाकादेरणुतरः । महतो महत्परिमाणान्महीयान्महत्तरः पृथिव्यादेः । अणु महद्वा यदस्ति लोके वस्तु तत्तेनैवात्मना नित्येनात्मवत्संभवति । तदात्मना विनिर्मुक्तमसत्संपद्यते । तस्माद् असावेवात्माणोरणीयान्महतो महीयान्सर्वनामरूपवस्तूपाधिकत्वात् । स चात्मास्य जन्तोर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य प्राणिजातस्य गुहायां हृदये निहित आत्मभूतः स्थित इत्यर्थः ।

तमात्मानं दर्शनश्रवणमननविज्ञानलिङ्गमक्रतुरकामो दृष्टादृष्टबाह्यविषयोपरतबुद्धिरित्यर्थः । यदा चैवं तदा मनआदीनि करणानि धातवः शरीरस्य धारणात्प्रसीदन्तीत्येषां धातूनां प्रसादादात्मनो महिमानं कर्मनिमित्तवृद्धिक्षयरहितं पश्यत्ययम् अहमस्मीति साक्षाद्विजानाति । ततो वीतशोको भवति ॥ २० ॥

पौर्वापर्य॰—निष्काम जितेन्द्रिय पुरुष ही आत्मा को प्राप्त कर सकता है, यह यम बता चुके । ऐसा क्यों ? क्योंकि प्रतीतितः विरुद्ध स्वभाव वाला होने से यह प्राकृत पुरुषों के लिये सर्वथा दुर्विज्ञेय है । यह तथ्य अगले दो मन्त्रों में कहा जा रहा है :—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥२१॥

अन्वय—आसीनः दूरम् व्रजति, शयानः सर्वतः याति, तम् मदामदम् देवम् मदन्यः कः ज्ञातुम् अर्हति ।

अर्थ—यह स्थित हुआ (भी) दूर तक जाता है, शयन करता हुआ भी सर्वत्र पहुँचता है । हर्ष से युक्त (भी) और रहित (भी) उस आत्मदेव को मेरे सिवा और कौन जान सकता है ?

विशेष— (i) स्थिति-गति तथा मदामद आदि अनेक विरुद्ध धर्म रूप उपाधि वाला होने से यह आत्मा विश्वरूप सा लगता है। इसी से यम ने इसे दुर्विज्ञेय कहा है। इसको समझने और जानने के लिये सूक्ष्म बुद्धि चाहिये।

इन्द्रियों के उपक्रम को यहां शयन कहा गया है। शयन करने वाले अर्थात् शान्त इन्द्रियों वाले पुरुष का इन्द्रिय-जनित एकदेश सम्बन्धी विज्ञान शान्त हो जाता है। उस समय केवल सामान्य विज्ञान होने से वह सर्वत्र जाता हुआ सा जान पड़ता है। जब वह विशेष विज्ञान में स्थित होता है तो स्वरूप से स्थित हुआ भी मन आदि उपाधियों वाला होने से उनकी गतियों के कारण दूर जाता हुआ सा जान पड़ता है-यही 'आसीनो दूरं व्रजति' कथन का भाव है। 'मदामद' कथन का तात्पर्य यह है कि अन्तःकरण के सत्वगुण की वृत्ति सुखात्मक एवं रजोगुण की वृत्ति दुःखात्मक है, अतः उससे उपहित आत्मा सत्त्व का प्राबल्य होने पर सुखी एवं रजस् का प्राबल्य होने पर सुखरहित—दुःखी सा प्रतीत होता है। वस्तुतः तो वह नित्यानन्द स्वरूप है, और अन्तःकरण की इन सुखदुःखात्मक वृत्तियों से उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, हाँ प्रतीतितः या व्यवहारतः वह जरूर सुखी-दुःखी होता दिखाई पड़ता है।

(ii) आसीनः—√आस्+शानच्। 'ईदासः' ६।२।८३ सूत्र से √आस् के आगे जुड़ने वाले शानच् के 'आ' के स्थान में 'ई' हो जाता है। इस प्रकार, आस्+आन=आस्+ईन='आसीन' शब्द बनता है। शयानः—√शी+शानच्। 'ई' को गुण होकर 'ए' होने पर, आगे स्थित 'आ' के कारण 'ए' को अय् आदेश होकर श्+अय्+आन=शयान शब्द बनता है। मदामदम्—मदश्च अमदश्चेति मदामदः (विशेषणोभयपद कर्मधारय), तम्। मदन्यः—मत् (अस्मत् शब्द का पं० एक० का रूप) अन्यः मदन्यः (अस्मत्→मत्+अन्यः), पं० तत्पु०। 'अस्मत्' को समास में एकवचन में 'मत्' आदेश हो जाता है।

शा० भा०—अन्यथा दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा कामिभिःप्राकृत पुरुषैः यस्मात्—आसीनोऽवस्थितोऽचल एव सन् दूरं व्रजति। शयानो याति सर्वत एवमसावात्मा देवो मदामदः समदोऽमदश्च सहर्षोऽहर्षश्च विरुद्धधर्मवानतोऽशक्यत्वाज्ज्ञातुं कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ? न कोऽपीत्यर्थः। अस्मदादेरेव सूक्ष्मबुद्धेः पण्डितस्य सुविज्ञेयोऽयमात्मा स्थितिगतिनित्यानित्यादिविरुद्धानेकधर्मोपाधिकत्वाद्विरुद्धधर्मवत्वाद्विश्वरूप इव चिन्तामणिवदवभासते। अतो दुर्विज्ञेयत्वं दर्शयति कस्तं मदन्यो ज्ञातुमर्हतीति।

करणानामुपशमः शयनं करणजनितस्यैकदेशविज्ञानस्य उपशमः शयानस्य भवति।

यदा चैवं केवलसामान्यविज्ञानत्वात् सर्वतो यातीव यदा विशेषविज्ञानस्थः स्वेन रूपेण स्थित एव सन्मनआदिगतिषु तदुपाधिकत्वाद्दूरं व्रजतीव । स चेहैव वर्तते ॥ २१ ॥

अशरीरँ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२२॥

अन्वय—धीरः शरीरेषु अशरीरम् अनवस्थेषु अवस्थितम् महान्तम्, विभुम् आत्मानम् मत्वा न शोचति ।

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुष समस्त शरीरों में अशरीर अर्थात् शरीर-रहित, अस्थायियों अर्थात् अनित्यों में नित्य रूप से स्थित, महान् तथा सर्वव्यापक आत्मा को जानकर शोक नहीं करता ।

विशेष—अशरीरम्—अविद्यमानं शरीरं यस्य सः (बहु०), तम् । अनवस्थेषु—अविद्यमाना अवस्था अवस्थितिः येषां ते (बहु०), तेषु ।

शा० भा०—तद्विज्ञानाच्च शोकात्यय इत्यपि दर्शयति—अशरीरं स्वेन रूपेण आकाशकल्प आत्मा तमशरीरं शरीरेषु देवपितृमनुष्यादिशरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थिति-रहितेष्ववस्थितं नित्यमविकृतमित्येतत्, महान्तं महत्त्वस्यापेक्षिकत्वशङ्कायामाह-विभुं व्यापिनमात्मानम्—आत्मग्रहणं स्वतोऽनन्यत्वप्रदर्शनार्थम्, आत्मशब्दः प्रत्यगात्मविषय एव मुख्यस्तमीदृशमात्मानं मत्वा अयमहमिति धीरो धीमान्न शोचति । न ह्येवं विध-स्यात्मविदः शोकोपपत्तिः ॥ २२ ॥

पौर्वापर्य०—दुर्विज्ञेय आत्मा उपाय-विशेष से प्राप्तव्य है, इस पूर्वोक्त बात को यम फिर कह रहे हैं अद्यावधि अकथित आत्मानुग्रह रूप उपाय बताने के लिये :—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥२३॥

अन्वय—अयम् आत्मा प्रवचनेन न लभ्यः, न मेधया, न बहुना श्रुतेन, एषः यम् वृणुते तेन लभ्यः, तस्य एष आत्मा स्वाम् तनूम् विवृणुते ।

अर्थ—यह आत्मा न तो प्रवचन से न मेधा या धारणा शक्ति से, और न बहुत श्रवण से ही प्राप्त होने योग्य है। जिस साधक को यह आत्मा वरण कर लेता है, उसी के द्वारा (वह) प्राप्त होने योग्य है। उसी साधक के प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है।

विशेष—(i) गोस्वामी जी ने राम-वाल्मीकि संवाद में वाल्मीकि द्वारा इसी भाव को इन शब्दों में कहा है :—'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हइ तुम्हइ हो जाई ।। (अयोध्याकाण्ड) ।। यह आत्म-कृपा साधक पर कैसे हो, इसका उत्तर तो यही होगा कि इन्द्रिय, मन आदि का निग्रह करके सच्चरित्र बने और आत्म-निवेदन करे। अगले मन्त्र में निग्रह की बात यम ने कही भी है।

(ii) **प्रवचनेन**—प्र + √वच् + ल्युट् → अन, तेन। **विवृणुते**—वि + √वृञ् (स्वादि०) + लट्, प्रथम० एक०।

शा० भा०—यद्यपि दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा तथाप्युपायेन सुविज्ञेय एवेत्याह—नायमात्मा प्रवचनेनानेकवेदस्वीकरणेन लभ्यो ज्ञेयो नापि मेधया ग्रन्थार्थधारणशक्त्या। न बहुना श्रुतेन केवलेन। केन तर्हि लभ्य इत्युच्यते—

यमेव स्वात्मानमेष साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैवात्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायत एवमित्येतत्। निष्कामस्यात्मानम् एव प्रार्थयत आत्मनैवात्मा लभ्यत इत्यर्थः।

कथं लभ्यत इत्युच्यते—तस्यात्मकामस्यैष आत्मा विवृणुते प्रकाशयति पारमार्थिकीं तनूं स्वां स्वकीयां स्वयाथात्म्यम् इत्यर्थः ।। २३ ।।

नाविरतो दुश्चरितात् नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।।२४।।

अन्वय—दुश्चरितात् अविरतः, न अशान्तः, न असमाहितः, न अशान्त—मानसः वा अपि प्रज्ञानेन एनम् न आप्नुयात्।

अर्थ—जो पाप-कर्मों से निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं जो समाहित नहीं है, और जिसका चित्त शान्त नहीं है, वह आत्मा को केवल (शुष्क) ज्ञान से प्राप्त नहीं कर सकता।

विशेष—**अविरतः**—न विरतः (वि + √रम् + क्त) इति, नञ्तत्पु०।

दुश्चरितात्--दुष्टं चरितम् (√चर्+क्त) इति दुश्चरितम् (दुस्+चरितम्) प्रादि तत्पु०, तस्मात्। **अशान्तः**—न शान्तः (√शम्+क्त) इति, नञ्तत्पु०। **असमाहितः**–न समाहितः (सम्+आ+√धा+क्त) इति, नञ्तत्पु०। **अशान्त मानसः**-अशान्तं मानसं (मनस्+अण् स्वार्थे) यस्य सः (बहुव्रीहिः)। **प्रज्ञानेन**--प्र+√ज्ञा+ल्युट्, तेन।

शा० भा०—किं चान्यत्—न दुश्चरितात्प्रतिषिद्धाच्छ्रुतिस्मृत्यविहितात्पापकर्मणोऽविरतः अनुपरतो नापीन्द्रियलौल्याद् अशान्तोऽनुपरतो नाप्यसमाहितोऽनेकाग्रमना विक्षिप्तचित्तः, समाहितचित्तोऽपि सन् समाधानफलार्थित्वान्नाप्यशान्तमानसो व्यापृतचित्तः प्रज्ञानेन ब्रह्मविज्ञानेनैनं प्रकृतमात्मानमाप्नुयात्। यस्तु दुश्चरिताद्विरत इन्द्रियलौल्याच्च समाहितचित्तः समाधानफलादप्युपशान्तमानसश्चाचार्यवान्प्रज्ञानेन यथोक्तम् आत्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः॥ २४॥

पौर्वापर्य०—जो पूर्वोक्त प्रकार का नहीं है अर्थात् असमाहित और अशान्त है, वह उस परमतत्त्व को न जानने से बार-बार उसके काल-रूप के वशीभूत होता है:—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥२५॥

अन्वय--ब्रह्म च क्षत्रम् च उभे यस्य ओदनः भवतः, यस्य उपसेचनम् मृत्युः, कः इत्था वेद यत्र सः।

अर्थ--जिस आत्मा के ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों भात (खाद्य) हैं, तथा मृत्यु जिसका शाकादि है, वह जहाँ है उसे कौन (अज्ञ पुरुष) इस तरह खाद्य (अर्थात् उपर्युक्त साधन-सम्पन्न अधिकारी की तरह) जान सकता है।

विशेष—ब्रह्म--ब्राह्मण। क्षत्रम्--क्षत्रिय। **ओदनः**--√उन्दीक्लेदने (रुधादि०)+युच्→अन (अक्षरार्थ–जो पानी में डाल कर पकाया जाय)। **उपसेचनम्**—उप+√सिच्+ल्युट्→अन इत्था—इत्थम् के अर्थ प्रयुक्त अव्यय पद।

शा० भा० - यस्त्वनेवंभूतः—यस्यात्मनो ब्रह्मक्षत्रे सर्वधर्मविधारके अपि सर्वत्राणभूते उभे ओदनोऽशनं भवतः स्याताम्, सर्वहरोऽपि मृत्युर्यस्योपसेचनम् इवौदनस्य, अशनत्वेऽप्यपर्याप्तस्तं प्राकृतबुद्धिर्यथोक्तसाधनरहितः सन् क इत्था इत्थमेवं यथोक्तसाधनवानिवेत्यर्थः, वेद विजानाति यत्र स आत्मेति॥ २५॥

इति-प्रथमाध्याये द्वितीय वल्ली भाष्यं समाप्तम्॥ २॥

तृतीया वल्ली

पौर्वापर्य०—द्वितीय वल्ली मे विद्या और अविद्या का कथन किया गया किन्तु उनका फलसहित यथावत् निर्णय नही किया गया था। तदर्थ रथ रूपक की कल्पना के साथ प्रस्तुत तृतीय वल्ली का प्रारम्भ किया जा रहा है। रथ-रूपक मे अन्य सब बातो के अतिरिक्त रथी और उसके गन्तव्य की बात अवश्य ही कथित होनी चाहिये। क्योकि रथ, घोड़े, सारथी, लगाम, रथ-मार्ग आदि अन्य सब तो रथी की गन्तव्य-पर्यन्त यात्रा के अङ्ग या साधन होने से गौण होते हैं और रथी तथा उसका गन्तव्य ही प्रधान होता है। अत. प्रथम मन्त्र मे रथी या गन्ता और गन्तव्य रूप से दो प्रकार के आत्माओ, जीवात्मा तथा परमात्मा का उपन्यास किया जा रहा है। यह उपन्यास साधना की दृष्टि है, वस्तुतः तो तत्त्व एक ही है। अतः व्यावहारिक भेद को लेकर ही साधक एवं साध्य अथवा गन्ता एव गन्तव्य की बात सार्थक है, परमार्थ-दृष्टि से तो इसे निरर्थक ही कहना होगा। व्यावहारिक वस्तु-स्थिति को लेकर ही श्रुति-स्मृति मे साधक-साध्य रूप से द्वैत का कथन किया गया है। उसी न्याय से यहाँ भी प्रथम मन्त्र मे द्विविध आत्मा का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है·—

ऋत पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहा प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेता ॥१॥

अन्वय—ये ब्रह्मविद· पञ्चाग्नय. त्रिणाचिकेता· च (ते) सुकृतस्य ऋत पिबन्तौ लोके गुहा परमे परार्धे प्रविष्टौ छायातपौ वदन्ति।

अर्थ—ब्रह्मवेत्ता एवं नाचिकेत अग्नि का तीन बार चयन करने वाले पञ्चाग्नि के उपासक (गृहस्थ), दोनो ही कहते हैं कि इस शरीर मे बुद्धि रूपी गुहा के भीतर प्रकृष्ट ब्रह्म-स्थान में प्रविष्ट होकर स्वकृत कर्म का फल भोगने वाले छाया और धूप (के समान क्रमश मलिन एव शुभ्र) दो तत्त्व हैं।

विशेष—(i) गुहां प्रविष्टौ—बुद्धि या हृदय रूपी गुहा में प्रविष्ट। इसके अभिप्राय या तात्पर्य के लिये १-२-१२ का 'विशेष' द्रष्टव्य है। 'विश्' का कर्म होने से गुहा शब्द में द्वितीया प्रयुक्त हुई है। संस्कृत में विश् धातु सकर्मक है जैसे, चौरो गृहं प्रविष्टः। परार्धे—परस्य (ब्रह्मणः) अर्धं (स्थानम्) परार्धम् (ष० तत्पु०), तस्मिन्। हार्दाकाश या हृदय-रन्ध्र में चित्त एकाग्र करने से आत्मसाक्षात्कार होता है, यह ऋषि-मुनियों का स्वानुभव है, इसी कारण से उसे 'परार्ध' अर्थात् ब्रह्म-स्थान कहते हैं। यह विषय पीछे १-२-१२ के 'गह्वरेष्ठम्' शब्द के व्याख्यान में सविस्तर स्पष्ट किया जा चुका है।

(ii) ऋतम्—कर्म-फल। इसकी सत्यता या अनिवार्यता के कारण ही यह शब्द नैतिक व्यवस्था तथा सत्य का बोधक हो गया। सुकृतस्य सुन्दरं शोभनं वा कृतम् सुकृतम् (प्रादितत्पु०) पुण्यमित्यर्थः, तस्य। 'सुकृत' दुष्कृत का भी उपलक्षण होने से प्रस्तुत स्थल में कर्म-मात्र का बोधक है। पिबन्तौ—√पा+शतृ, पुं० प्र० द्विवचन। इसका तात्पर्य है, भोगते हुये। यद्यपि कर्मफल तो जीवात्मा ही भोगता है, इसी से उसे छायावत् मलिन रूप कहा गया है, और परमात्मा या ईश्वर[1] तो कर्म, कर्माशय, विपाकादि से रहित होने के कारण आतप अर्थात् धूप के समान शुभ्र रूप कहा गया है, तथापि छत्रि—न्याय से सुख-दुखादि भोगने वाले अनन्त जीवों के साथ अन्तर्यामी या साक्षी रूप से उपस्थित होने के कारण उसे भी भोक्ता कह दिया गया है। जैसे अनेक मनुष्यों के समुदाय में किसी एक के पास छाता होने से पूरे समुदाय को 'छत्री'—छत्त वाले—नाम से बोध कराया जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। लोके—√लोक+घञ् अधिकरणे,लोक्यन्ते साक्षात्क्रियन्ते कर्मफलान्यस्मिन्निति लोकः शरीरम्, तस्मिन्। 'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।' (गीता ९.३३) में भी 'लोक' का अर्थ शरीर ही है। न्यायशास्त्र में भी इसी दृष्टि से शरीर को 'अर्थाश्रयः' अर्थात् भोगायतन कहा गया है।

ब्रह्मविद—ब्रह्मन्+√विद्+क्विप् कर्तरि, पुं० प्र० बहु०। इसका अर्थ है ब्रह्मज्ञानी अर्थात् ज्ञानमार्गी कर्मसंन्यासी। पञ्चाग्नयः—पञ्च अग्नयः (गार्हपत्यदक्षिणाहवनीयसभ्यावसथाः, अथवा द्युलोकपर्जन्यपृथ्वीपुरुष-योषाः–बृहदा०) उपास्या येषां ते (बहुव्रीहि०)। यह शब्द कर्ममार्गी गृहस्थों के लिये प्रयुक्त है। इन्हीं के लिये 'त्रिणाचिकेताः' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। इसकी विशेष व्याख्या १-१-१७ मन्त्र के विशेष में द्रष्टव्य है। छायातपौ—छाया च आतपश्चेति (इतरेतर द्वन्द्व०)। इसका भाव मुण्डकोपनिषद् ३-१ मन्त्र में भी आया

---

१. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः—योगसूत्र १-२४

है जो इस प्रकार है—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" ।। इसका तात्पर्य यह है कि दो सखा पक्षी एक वृक्ष पर बैठे हैं। उनमें से एक तो वृक्ष के फल को स्वाद-पूर्वक खा रहा है, भोग रहा है। किन्तु दूसरा तो न खाता हुआ अर्थात् फलभोग से रहित रहता हुआ सर्वत्र चमकता है, प्रकाशित होता है। [भाष्यकार शङ्कराचार्य ने 'अभिचाकशीति' पद का अर्थ किया है 'चारों ओर देखता रहता है अर्थात् साक्षी या द्रष्टा-मात्र है, भोक्ता नहीं ।]

शा० भा०—ऋतं पिबन्तावित्यस्या वल्ल्याः सम्बन्धः—विद्याविद्ये नाना-विरुद्धफले इत्युपन्यस्ते न तु सफले ते यथावन्निर्णीते; तन्निर्णयार्था रथरूपककल्पना, तथा च प्रतिपत्तिसौकर्यम् । एवं च प्राप्तृप्राप्यगन्तृगन्तव्यविवेकार्थं द्वावात्मानौ उपन्यस्येते—

ऋतं सत्यमवश्यम्भावित्वात् ? कर्मफलं पिबन्तौ, एकस्तत्र कर्मफलं पिबति भुङ्क्ते नेतरः, तथापि पातृसम्बन्धात्पिबन्तौइत्युच्यते छत्रिन्यायेन । सुकृतस्य स्वयं-कृतस्य कर्मण ऋतमिति पूर्वेण सम्बन्धः, लोकेऽस्मिन् शरीरे गुहां गुहायां बुद्धौ प्रविष्टौ, परमे बाह्यपुरुषाकाशसंस्थानापेक्षया परमम्, परस्य ब्रह्मणोऽर्धं स्थानं परार्धम् । तस्मिन्हि परं ब्रह्मोपलभ्यते, अतस्तस्मिन्परमे परार्धे हार्दाकाशे प्रविष्टावित्यर्थः । तौ चच्छायातपाविव विलक्षणौ संसारित्वासंसारित्वेन ब्रह्मविदो वदन्ति कथयन्ति । न केवलमकर्मिण एव वदन्ति, पञ्चाग्नयो गृहस्था ये च त्रिणाचिकेताः त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो यैस्ते त्रिणाचिकेताः ।। १ ।।

पौर्वापर्य०—अब मन्त्र २ में यम दो साधनों, कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड, का वर्णन करते हैं—

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् ।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतँ शकेमहि ।।२।।

अन्वय—यः ईजानानां सेतुः, (तं) नाचिकेतं; यत् तितीर्षताम् अभयं पारं (तच्च) अक्षरं परं ब्रह्म (ज्ञातुं) शकेमहि ।

अर्थ—जो यज्ञ करने वालों का सेतु है (अर्थात् दुःख-सागर को पार करने के

लिये सेतु के समान है), उस नाचिकेत अग्नि को, एवं जो (संसार-सागर को) तैर जाने के इच्छुकों के लिये भय-शून्य किनारा है, उस अविनाशी परब्रह्म को जानने में हम समर्थ हों।

विशेष—सेतुः-पुल। नदी, जलाशय या समुद्र के एक पार से दूसरे पार जाने के साधन को सेतु कहते हैं। यहाँ नाचिकेत अग्नि को यज्ञ करने वालों का सेतु कहा है। पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि अग्नि प्रथम शरीरी या विराट् प्रजापति है, इसमें आहुतियाँ देकर जो यज्ञ का सम्पादन करते है, उन्हें परमेश्वर अपने अग्नि रूप से पृथ्वी से द्युलोक या स्वर्ग तक पहुँचाता है। इस प्रकार वह यजमानों के लिये पृथ्वी एवं द्युलोक के बीच सेतु बन जाता है। तात्पर्य यह है कि यज्ञ-कर्मी के लिये जो परमात्मा अग्नि रूप से स्वर्ग-प्राप्ति करवाता है, वही ज्ञान-मार्गी के लिये अकुतोभय परम पद या मोक्ष की प्राप्ति भी करवाता है। इस प्रकार कर्म-मार्गी का आश्रय अपर ब्रह्म है तथा ज्ञान-मार्गी का आश्रय परब्रह्म है। **ईजानानाम्**—√यज्+(लिड्र्थे) कानच्, पुं० ष० बहु०। **अक्षरम्**-क्षरतीति क्षरम् विनाशि। न क्षरम् इति अक्षरम् (नञ् तत्पु०)। **अभयम्**—अविद्यमानं भयं यस्मिन् तत् (नञ् बहुव्रीहि०)। **तितीर्षताम्**—√तॄ+सन्+शतृ, पुं० ष० बहु०। **शकेमहि**—√शक्+विधिलिङ्, उ० पु० बहु०। यह रूप वैदिक संस्कृत का है, इसे आर्ष या छान्दस मानना चाहिये। लौकिक संस्कृत मे 'शक्नुयाम' रूप बनता है।

शा० भा०—यः सेतुरिव सेतुरीजानानां यजमानानां कर्मिणां दुःखसन्तरणार्थत्वान्नाचिकेतोऽग्निस्तं वयं ज्ञातुं चेतुं च शकेमहि शक्नुवन्तः। किं च यच्चाभयं भयशून्यं संसारपारं तितीर्षतां तर्तुमिच्छतां ब्रह्मविदां यत्परमाश्रयमक्षरमात्माख्यं ब्रह्म तच्च ज्ञातुं शकेमहि शक्नुवन्तः। परापरे ब्रह्मणी कर्मब्रह्मविदाश्रये वेदितव्ये इति वाक्यार्थः। एतयोरेव ह्युपन्यासः कृत ऋतं पिबन्ताविति ॥ २ ॥

पौर्वापर्य०—द्वितीय मन्त्र मे कथित अभय परम पद किन साधनों से प्राप्त हो सकता है, इसे तृतीय से अष्टम मन्त्र तक रथ-रूपक द्वारा यमराज नचिकेता से बता रहे हैं:—

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३॥

अन्वय—आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरम् एव तु रथम्, बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः एव च प्रग्रहम्।

अर्थ—आत्मा को रथी समझो, शरीर को ही रथ (समझो), बुद्धि को सारथि समझो, तथा मन को ही लगाम (समझो)।

विशेष—रथ-रूपक की व्याख्या भूमिका में द्रष्टव्य है। **रथी**—रथ + इनिः (रथः + अस्यास्तीति रथी रथस्वामीत्यर्थः)। **बुद्धिम्**—बुध्यतेऽनयेति (√बुध् + क्तिन् करणे) बुद्धिः, ताम्।

शा० भा०—तत्र य उपाधिकृतः संसारी विद्याविद्ययोरधिकृतो मोक्षगमनाय संसारगमनाय च, तस्य तदुभयगमने साधनो रथः कल्प्यते। तत्र तत्रात्मानमृतपं संसारिणं रथिनं रथस्वामिनं विद्धि जानीहि। शरीरं रथमेव तु रथबद्धहयस्थानीयैरिन्द्रियैरा- कृष्यमाणत्वाच्छरीरस्य। बुद्धिं तु अध्यवसायलक्षणां सारथिं विद्धि बुद्धिनेतृप्रधानत्वा- च्छरीरस्य सारथिनेतृप्रधान इव रथः। सर्वं हि देहगतं कार्यं बुद्धिकर्त्तव्यमेव प्रायेण। मनः संकल्पविकल्पादिलक्षणं प्रग्रहं रशनां विद्धि। मनसा हि प्रगृहीतानि श्रोत्रादीनि करणानि प्रवर्तन्ते रशनयेवाश्वाः॥ ३॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥४॥

अन्वय—मनीषिणः इन्द्रियाणि हयान् आहुः, तेषु विषयान् गोचरान् (आहुः), आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं (आत्मानं) भोक्ता इति आहुः।

अर्थ—मनीषी इन्द्रियों को घोड़े बतलाते है, उन इन्द्रियों के घोड़े होने पर उनके (शब्द स्पर्शादि) विषयों को उनके मार्ग बतलाते हैं, और शरीर, इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को भोक्ता—जीव—कहते हैं।

विशेष—**मनीषिणः**—मनीषा + इनिः, पुं० प्र० बहु०। **गोचरान्**—गच्छ- न्तीति गावः (गम् + डो) पशव इत्यर्थः, तेषां चराः—(√चर् + घञ्) गोचराः, तान्। **आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्**—आत्मा च इन्द्रियाणि च मनश्चेति आत्मेन्द्रियमनांसि (द्वन्द्व) तैर्युक्तः (तृ० तत्पु०), तम्। यह पद तृतीयमन्त्रोक्त 'आत्मानम्' का विशेषण है, उसका यहाँ अध्याहार करना पड़ेगा अर्थ को पूर्ण करने के लिये। **भोक्ता**—√भुज् + तृच् कर्तरि पुं० प्रथमा एक०। यद्यपि आत्मा अपने विशुद्ध वास्तविक रूप में भोक्ता नहीं है, तथा शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इत्यादि भी स्वरूपतः अचेतन होने से पृथक्-पृथक् अथवा संहत रूप में भी विषयों के भोक्ता नहीं हो सकते, तथापि शरीरेन्द्रियादि से उपहित आत्मा अज्ञान-वश उनके कर्मों को अपना समझता हुआ उनके फल के भोग के लिये विवश होकर जन्म लेता है।

यहाँ समास-गत 'आत्मा' शब्द शरीर का वाचक है, √अत् गतौ धातु से उणादि मनिण् प्रत्यय लगने पर 'आत्मन्' शब्द निष्पन्न होता है। इसका सामान्य

अर्थ गन्ता—चलने वाला—होता है। 'शरीर' गतिशील होने से ही 'आत्मा' कहा जाता है। 'अतति गच्छति सर्वत्र व्याप्नोति सर्वम्' इस अर्थ में 'आत्मा' व्यापक, निर्विकार, विशुद्ध चैतन्य रूप प्रसिद्ध अर्थ का वाचक होता है। 'भोक्ता' में शरीर, इन्द्रिय तथा मन के साथ बुद्धि का भी ग्रहण होना चाहिये, जैसा कि अगले मन्त्र से स्पष्ट है। वहाँ 'विज्ञान' शब्द से बुद्धि का ही ग्रहण है। यहाँ 'मन' में ही उसका अन्तर्भाव समझ लेना चाहिये।

शा० भा०—इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि हयान् आहू रथकल्पनाकुशलाः शरीररथाकर्षणसामान्यात्। तेष्वेव इन्द्रियेषु हयत्वेन परिकल्पितेषु गोचरान्मार्गान् रूपादीन् विषयान् विद्धि। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं शरीरेन्द्रियमनोभिः सहितं संयुक्तमात्मानं भोक्तेति संसारीत्याहुर्मनीषिणो विवेकिनः। न हि केवलस्यात्मनो भोक्तृत्वमस्ति बुद्ध्याद्युपाधिकृतमेव तस्य भोक्तृत्वम्। तथा च श्रुत्यन्तरं केवलस्याभोक्तृत्वमेव दर्शयति "ध्यायतीव लेलायतीव" (बृह० उप० ४-३-७) इत्यादि। एवं च सति वक्ष्यमाणरथकल्पनया वैष्णवस्य पदस्यात्मतया प्रतिपत्तिरुपपद्यते नान्यथा स्वभावानतिक्रमात्॥ ४॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥५॥

अन्वय—यस्तु सदा अविज्ञानवान् अयुक्तेन मनसा भवति, तस्य इन्द्रियाणि सारथेः दुष्टाश्वा इव अवश्यानि (भवन्ति)।

अर्थ—जो (बुद्धि-सारथी) सदा अविवेकी एवं असमाहित मन से युक्त रहता है, उसके वश में इन्द्रियाँ उसी प्रकार नहीं रहतीं जैसे इतर सारथी के वश में दुष्ट घोड़े।

विशेष—यः-यह सर्वनाम बुद्धि-सारथी के लिये आया है। **अविज्ञानवान्**—विज्ञानं विवेकः तद्वान् (विज्ञान+मतुप्) विवेकीत्यर्थः, न विज्ञानवान् इत्यविज्ञानवान् अविवेकी। भाष्यकार शङ्कराचार्य ने अविवेकी एवं अनिपुण—इन दो शब्दों के द्वारा इस शब्द का अर्थ प्रकट किया है। युक्तेन—√युज् समाधौ+क्त, तृ० एक०, एकाग्रेण समाहितेनेत्यर्थः। **मनसा**—'इत्थम्भूत-लक्षणे' सूत्र से तृतीया विभक्ति हुई है। 'मनसा उपलक्षितः युक्तः' यह अर्थ हुआ।

शा० भा०—तत्रैवं सति यस्तु बुद्ध्याख्यः सारथिरविज्ञानवाननिपुणोऽविवेकी प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च भवति यथेतरो रथचर्यायामयुक्तेन अप्रगृहीतेनासमाहितेन मनसा प्रग्रहस्थानीयेन सदा युक्तो भवति, तस्याकुशलस्य बुद्धिसारथेः इन्द्रियाण्यश्वस्थानीयान्यवश्यानि अशक्यनिवारणानि दुष्टाश्वा अदान्ताश्वा इवेतरसारथेर्भवन्ति॥ ५॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥६॥

अन्वय—यः तु सदा विज्ञानवान् युक्तेन मनसा भवति, तस्य इन्द्रियाणि सारथेः सदश्वा इव वश्यानि (भवन्ति) ।

अर्थ—किन्तु जो (बुद्धि-सारथी) सदा विवेकी एवं समाहित (एकाग्र), मन से युक्त रहता है, उसके वश में इन्द्रियाँ उसी प्रकार रहती हैं जैसे इतर सारथी के वश में अच्छे घोड़े ।

विशेष—**सदश्वाः**—सन्तः अश्वा इति (सत् = √अस् + शतृ + अश्वाः) विशेषणपूर्वपदकर्मधारय० ।

शा० भा०—यस्तु पुनः पूर्वोक्तविपरीतः सारथिर्भवति विज्ञानवान्प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सदा, तस्याश्वस्थानीयानीन्द्रियाणि प्रवर्तयितुं निवर्तयितुं वा शक्यानि वश्यानि दान्ताः सदश्वा इवेतरसारथेः ॥ ६ ॥

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति सँसारं चाधिगच्छति ॥७॥

अन्वय—यः तु सदा अविज्ञानवान् अमनस्कः अशुचिः (च) भवति, स तत् पदं न आप्नोति, संसारं च अधिगच्छति ।

अर्थ—जो सदा विवेक-रहित, अयुक्त या असावधान मन वाला तथा अपवित्र रहता है, वह उस परम पद को नहीं प्राप्त करता अपितु संसार—आवागमन या जन्म-मृत्यु-परम्परा—को प्राप्त करता है ।

विशेष—**अमनस्कः**—अविद्यमानं मनो यस्य सः (नञ् बहुव्रीहि), समासान्त कप् प्रत्यय । **अशुचिः**-न शुचिः (नञ् तत्पु०) । **संसारम्**—सम् - √सृ + घञ् भावे, पुं० द्वि० एक० ।

शा० भा०—तस्य पूर्वोक्तस्याविज्ञानवतो बुद्धिसारथेरिदं फलमाह—यस्त्वविज्ञानवान्भवति अमनस्कोऽप्रगृहीतमनस्कः स तत एवाशुचिः सदैव, न स रथी तत्पूर्वोक्तमक्षरं यत्परं पदम् आप्नोति तेन सारथिना । न केवलं कैवल्यं नाप्नोति संसारं च जन्ममरणलक्षणमधिगच्छति ॥ ७ ॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदाशुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥८॥

अन्वय—यः तु सदा विज्ञानवान् समनस्कः, शुचिः (च) भवति, स तु तत् पदम् आप्नोति यस्माद् भूयः न जायते ।

अर्थ—जो सदा विवेक-युक्त, युक्त या सावधान मन वाला तथा पवित्र

रहता है, वह उस परम पद को प्राप्त करता है जहाँ से फिर नहीं उत्पन्न होता है।

विशेष—समनस्कः—मनसा सहेति समनस्कः (सह→स+मनस्+कप् प्रत्यय समासान्त) बहुव्रीहि समास।

शा० भा०—यस्तु द्वितीयो विज्ञानवान् विज्ञानवत्सारथ्युपेतो रथी विद्वान् इत्येतत्; युक्तमनाः समनस्कः स तत एव सदा शुचिः, स तु तत्पदमाप्नोति, यस्मादाप्तात्पदाद् अप्रच्युतः सन् भूयः पुनर्न जायते संसारे ॥ ८ ॥

पौर्वापर्य०—नवम मन्त्र में पूर्वोक्त रथ-रूपक का उपसंहार करते हुये विवेकी पुरुष के परमपद-प्राप्ति-विषयक तथ्य को पुनः स्पष्ट करते हुये यमराज नचिकेता से कहते हैं :—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९॥

अन्वय—यः नरः तु विज्ञानसारथिः मनःप्रग्रहवान् (अस्ति) सः अध्वनः पारं विष्णोः तद् परमं पदम् आप्नोति।

अर्थ—जो विवेकयुक्त बुद्धिरूपी सारथि से युक्त और मनरूपी लगाम (से इन्द्रिय रूपी घोड़ों) को वश में रखने वाला होता है, वह मनुष्य संसार-मार्ग के पार में स्थित परमात्मा के उस परम पद को प्राप्त कर लेता है।

विशेष—(i) तीसरे मन्त्र से नवें मन्त्र तक जिस रथ के रूपक की कल्पना की गयी है, उससे यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो गई है कि यह अनित्य तथापि अति-दुर्लभ मानव-शरीर जिस जीवात्मा को अपने शुभ कर्मों के परिणामस्वरूप प्राप्त हो गया है, उसे अपना सौभाग्य समझकर अपने जीवन को मानव-जीवन की लक्ष्य-पूर्ति के निमित्त लगा देना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में अर्जुन से इसी बात को स्पष्ट करते हुये कहा है—"अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।" अपने जीवन के इस अमूल्य समय को यदि पशुओं की तरह सांसारिक भोगों को भोगने में ही नष्ट कर दिया गया तो उसका परिणाम यह होगा कि उस व्यक्ति को संसार के आवागमन अथवा जन्म-मृत्यु के चक्र में ही घूमते रहना पड़ेगा। और इस भाँति मानव-जीवन के लक्ष्य अथवा उद्देश्य की पूर्ति वह कभी भी न कर सकेगा। अतः मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह अपनी बुद्धि का सदुपयोग करे, सांसारिक विषय-भोग से जनित क्षणिक सुखों की वास्तविक दुःखरूपता को समझकर उनसे उदासीन हो जाय तथा केवल शरीर-निर्वाह के लिये अपेक्षित कर्मों को निष्काम भाव से करता हुआ परमात्मा में अहर्निश तल्लीन या अनुरक्त रहे और इस प्रकार ब्रह्म

का साक्षात्कार करके उस परम पद को प्राप्त कर ले जहाँ से लौटकर फिर इस संसार-चक्र या जीवन एवं मृत्यु के बन्धन में न पड़ना पड़े ।

(ii) विज्ञानसारथिः—विज्ञानयुक्तः सारथिरिति (शाकपार्थिवादिसमासः) । मनःप्रग्रहवान्—मन एव प्रग्रह इति मनःप्रग्रहः (अवधारणपूर्वपदकर्मधा०), तद्वान् (मनःप्रग्रह+मतुप्, पुं० प्र० एक०) । अध्वनः-अध्वन्+ङस् (षष्ठी एक०) संसारमार्गस्येत्यर्थः । तत्-प्रसिद्धम् इत्यर्थः ।

शा० भा०—किं तत्पदमित्याह विज्ञानसारथिर्यस्तु यो विवेकबुद्धिसारथिः पूर्वोक्तो मनः प्रग्रहवान् प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सञ्शुचिर्नरो विद्वान् सोऽध्वनः संसारगतेः पारं परमेव अधिगन्तव्यमित्येतदाप्नोति मुच्यते सर्वसंसारबन्धनैः तद्विष्णोः व्यापनशीलस्य ब्रह्मणः परमात्मनो वासुदेवाख्यस्य परमं प्रकृष्टं पदं स्थानं सतत्त्वमित्येतद्यदसौ आप्नोति विद्वान् ॥ ९ ॥

पौर्वापर्य०—अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि बलवान् इन्द्रिय-समूह को उनके प्रिय तथा अभ्यस्त असत्-मार्ग से कैसे हटाया जाय । अगले चार मन्त्रों में इस विषय का तात्त्विक विवेचन करते हुए इन्द्रियों को असत्-मार्ग से हटाकर भगवान् की ओर लगाने के प्रकार का वर्णन करते हैं—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥१०॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥११॥

अन्वय—इन्द्रियेभ्यः हि अर्थाः पराः, अर्थेभ्यः च मनः परम्, मनसः तु बुद्धिः परा, बुद्धेः महान् आत्मा परः ॥१०॥ महतः अव्यक्तं परम्, अव्यक्तात् पुरुषः परः, पुरुषात् न किञ्चित् परम्, सा काष्ठा, सा परा गतिः ।

अर्थ—इन्द्रियों से उनके शब्द-रूप-रसादि विषय सूक्ष्म या श्रेष्ठ हैं, विषयों से मन सूक्ष्म या श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि सूक्ष्म या श्रेष्ठ है, बुद्धि से महान् आत्मा अर्थात् हिरण्यगर्भ सूक्ष्म या श्रेष्ठ है ॥१०॥ हिरण्यगर्भ से अव्यक्त सूक्ष्म या श्रेष्ठ है, अव्यक्त से पुरुष सूक्ष्म या श्रेष्ठ है, पुरुष से सूक्ष्म या श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है । वही (सूक्ष्मता की) चरम सीमा है, वही अन्तिम गति—गन्तव्य है ।

विशेष—(i) इन्द्रियों से उनके विषयों को इसलिये श्रेष्ठ कहा है क्योंकि वे उन्हें अपनी ओर खींच लेते है—विषिण्वन्ति बध्नन्ति स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्तीति विषयाः (सां० का० ५ मे स्थित 'प्रतिविषय' शब्द की वाचस्पतिमिश्र-कृत

तत्त्वकौमुदी) । इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय के सम्पर्क में आकर तद्रूप--उनके रूप से निरूपित-हो जाती हैं ।

(ii) **महान् आत्मा**—समष्टि बुद्धि का अभिमानी देवता हिरण्यगर्भ है। वह सभी व्यष्टि—वैयक्तिक-बुद्धियों का नियामक या स्वामी होने से उनकी अपेक्षा श्रेष्ठ कहा गया है । समष्टि बुद्धि का स्वामी होने से ही वह 'महान्' कहा जाता है ।

(iii) **अव्यक्त**—हिरण्यगर्भ से पूर्व की स्थिति है, जैसा कि भाष्यकार शंकर ने स्पष्ट किया है—"महतोऽपि परं सूक्ष्मतरं प्रत्यगात्मभूतं सर्वमहत्तरं चाव्यक्तं सर्वस्य जगतो बीजभूतम् अव्याकृतनामरूपसतत्त्वं सर्वकार्यकारण-शक्तिसमाहार-रूपम् अव्यक्ताव्याकृताकाशादिनामवाच्यं परमात्मनि ओतप्रोतभावेन समाश्रितं वटकणिकायामिव वटवृक्षशक्तिः ।" पुरुष समस्त कारणों का भी कारण-भूत, सभी का प्रत्यगात्म-स्वरूप, सभी को पूरित करने के कारण 'पुरुष' इस नाम से जाना जाता है । इसी को पुरुष-सूक्त में 'पुरुष एवेदँ सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्' इत्यादि रूप से वर्णित किया गया है। अव्यक्त इस पुरुष एवं हिरण्यगर्भ के बीच की अवस्था है । सांख्यानुयायी 'अव्यक्त' से प्रकृति का ग्रहण करते हैं ।

(iv) **इन्द्रियम्**—इन्द्र + घ प्रत्यय (इय) । इन्द्र अर्थात् आत्मा के लिये होने से श्रवणादि की 'इन्द्रिय' संज्ञा है। इन्द्रियाँ जड़ हैं, इनका उपयोग करने वाला कोई चेतन कर्त्ता होना चाहिये जैसे बसूले आदि का उपयोग करने वाला तक्षा या बढ़ई । इस प्रकार इन्द्रियाँ चेतन आत्मा के अनुमान मे लिङ्ग बनती हैं—इसीलिये वाचस्पति मिश्र ने अपनी सांख्यतत्त्वकौमुदी में 'इन्द्रलिङ्गत्वमिन्द्रियत्वम्' कहा है । यद्यपि बुद्धि क भी उसी तरह आत्मलिङ्ग होने से उसके भी इन्द्रिय होने का प्रसङ्ग उठेगा, तथापि 'इन्द्रिय' शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टि से ऐसा कहा गया है । परिष्कृत लक्षण तो वही होगा जिससे श्रवणादि दश बाह्य तथा मन नामक आन्तरिक इन्द्रिय का ग्रहण हो, इन्द्रियेतर बुद्धि का ग्रहण न हो। इस दृष्टि से वाचस्पति ने 'सात्त्विका-हङ्कारोपादानकत्वमिन्द्रियत्वम्' कहा है । अर्थात् जो सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न हो जिसकी उत्पत्ति में सात्त्विक अहङ्कार उपादान कारण हो, वह इन्द्रिय है। चूँकि सांख्य में सात्त्विक अहङ्कार से केवल ग्यारह इन्द्रियाँ ही उत्पन्न होती है, बुद्धि नहीं, अतः यह इन्द्रिय-मात्र का लक्षण हुआ ।

शा०भा०—अधुना यत्पदं गन्तव्यं तस्य इन्द्रियाणि स्थूलान्यारभ्य सूक्ष्मतारतम्यक्रमेण प्रत्यगात्मतया अधिगमः कर्त्तव्य इत्येवमर्थमिदम् आरभ्यते—स्थूलानि तावदिन्द्रियाणि तानि यैरर्थैरात्मप्रकाशनाय आरब्धानि तेभ्य इन्द्रियेभ्यः स्वकार्येभ्यस्ते परा ह्यर्थाः सूक्ष्मा महान्तश्च प्रत्यगात्मभूताश्च ।

तेभ्योऽप्यर्थेभ्यश्च परं सूक्ष्मतरं महत्प्रत्यगात्मभूतं च मनः । मनःशब्दवाच्यं

मनसः आरम्भकं भूतसूक्ष्मं संकल्पविकल्पाद्यारम्भकत्वात् । मनसोऽपि परा सूक्ष्मतरा महत्तरा प्रत्यगात्मभूता च बुद्धिः, बुद्धिशब्दवाच्यमध्यवसायाद्यारम्भकं भूतसूक्ष्मम् । बुद्धेरात्मा सर्वप्राणिबुद्धीनां प्रत्यगात्मभूतत्वादात्मा महान्सर्वमहत्त्वात् । अव्यक्ताद्यत्प्रथमं जातं हैरण्यगर्भं तत्त्वं बोधाबोधात्मकं महानात्मा बुद्धेः पर इत्युच्यते ।। १० ।। महतोऽपि परं सूक्ष्मतरं प्रत्यगात्मभूतं सर्वमहत्तरं च अव्यक्तं सर्वस्य जगतो बीजभूतम् अव्याकृतनामरूपसतत्त्वं सर्वकार्यकारणशक्तिसमाहाररूपम् अव्यक्ताव्याकृताकाशादिनामवाच्यं परमात्मन्योतप्रोतभावेन समाश्रितं वटकणिकायामिव वटवृक्षशक्तिः ।

तस्मादव्यक्तात्परः सूक्ष्मतरः सर्वकारणकारणत्वात् प्रत्यगात्मत्वाच्च महांश्च, अत एव पुरुषः सर्वपूरणात् । ततोऽन्यस्य परस्य प्रसङ्गं निवारयन्नाह—पुरुषान्न परं किंचिदिति । यस्मान्नास्ति पुरुषात् चिन्मात्रघनात् परं किंचिदपि वस्त्वन्तरं तस्मात् सूक्ष्मत्वमहत्त्वप्रत्यगात्मत्वानां सा काष्ठा निष्ठा पर्यवसानम् ।

अत्र हीन्द्रियेभ्य आरभ्य सूक्ष्मत्वादिपरिसमाप्तिः । अतएव च गन्तॄणां सर्वंगतिमतां संसारिणां परा प्रकृष्टा गतिः "यद्गत्वा न निवर्तन्ते" (गीता ८।२१; १५।६) इति स्मृतेः ।। ११ ।।

> एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
> दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।।१२।।

अन्वय—सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा एषः न प्रकाशतेः, सूक्ष्मदर्शिभिः तु अग्र्यया सूक्ष्मया बुद्ध्या दृश्यते ।

अर्थ—सभी प्राणियों में छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशित नहीं होता (अपितु) सूक्ष्मदर्शी (विद्वानों) द्वारा कुशाग्र और सूक्ष्म बुद्धि से ही देखा जाता है ।

विशेष—(i) जीवात्मा प्राणी के हृदय में निवास करता है । परमात्मा भी सर्वव्यापक होने के कारण प्रत्येक प्राणी के हृदय में निवास करता है । सांसारिक विषयों में लिप्त रहने के कारण जीवात्मा परमात्मा को पहचान नहीं पाता । जीवात्मा अपनी स्थूल बुद्धि से परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता । सूक्ष्मदर्शी जीवात्मा अपनी तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धि से परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है । सांसारिक विषयों का परित्याग करके अध्यात्म-योग साधने से बुद्धि तीक्ष्ण और सूक्ष्म हो सकती है ।

(ii) **गूढोत्मा**—यह वैदिक या आर्ष प्रयोग है, पाणिनि-मत से ठीक रूप नहीं है । पाणिनि-कृत व्याकरण से 'गूढः आत्मा' का सन्धि-कृत रूप 'गूढ आत्मा' होगा । विसर्ग का लोप हो जायगा, फिर सवर्ण दीर्घ सन्धि (गूढात्मा) नहीं होगी ।

हाँ, समास करने पर "गूढश्चासौ आत्मा चेति" इस अर्थ में 'गूढात्मा' बनेगा। अग्र्यया— अग्रमिव इति अग्र्या (तीक्ष्णेत्यर्थः)=अग्र+यत्+टाप् स्त्रियाम्, तया।

शा०भा०—ननु गतिश्चेदागत्यापि भवितव्यम्। कथं यस्माद्भूयो न जायत इति ?

नैष दोषः, सर्वस्य प्रत्यगात्मत्वादवगतिरेव गतिरित्युपचर्यते। प्रत्यगात्मत्वं च दर्शितमिन्द्रियमनोबुद्धिपरत्वेन। यो हि गन्ता सोऽगतमप्रत्यग्रूपं गच्छत्यनात्मभूतं न विपर्ययेण। तथा च श्रुतिः—"अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः' इत्याद्या। तथा च दर्शयति प्रत्यगात्मत्वं सर्वस्य–एष पुरुषः सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु भूतेषु गूढः संवृतो दर्शनश्रवणादिकर्माविद्यामायाच्छन्नोऽत एवात्मा न प्रकाशते आत्मत्वेन कस्यचित्। अहो अतिगम्भीरा दुरवगाह्या विचित्रा माया चेयं यदयं सर्वो जन्तुः परमार्थतः परमार्थसतत्त्वोऽप्येवं बोध्यमानोऽहं परमात्मेति न गृह्णात्यनात्मानं देहेन्द्रियादिसङ्घात-मात्मनो दृश्यमानमपि घटादिवदात्मत्वेनाहममुष्य पुत्र इत्यनुच्यमानोऽपि गृह्णाति। नूनं परस्यैव मायया मोमुह्यमानः सर्वो लोको बम्भ्रमीति। तथा च स्मरणम्–"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" (गीता ७।२५) इत्यादि।

ननु विरुद्धमिदमुच्यते "मत्वा धीरो न शोचति" (कठो० २।१।४) "न प्रकाशते" (कठो० १।३।१२) इति च। नैतदेवम्। असंस्कृतबुद्धेरविज्ञेयत्वान्न प्रकाशत इत्युक्तम्। दृश्यते तु संस्कृतया अग्र्यया अग्रमिव अग्र्या तया, एकाग्रतयोपे-तयेत्येनत्, सूक्ष्मया सूक्ष्मवस्तुनिरूपणपरया, कैः ? सूक्ष्मदर्शिभिः "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः" इत्यादिप्रकारेण सूक्ष्मतापारम्पर्यदर्शनेन परं सूक्ष्मं द्रष्टुं शीलं येषां ते सूक्ष्मदर्शिनस्तैः सूक्ष्मदर्शिभिः पण्डितैरित्येतत् ॥ १२ ॥

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१३॥

अन्वय—प्राज्ञः वाक् मनसी यच्छेत्। तत् ज्ञाने आत्मनि यच्छेत्। ज्ञानं महति आत्मनि नियच्छेत्। तत् शान्ते आत्मनि यच्छेत्।

अर्थ—विवेकी पुरुष वाक् (आदि) इन्द्रियों का मन में उपसंहार करे, उसको प्रकाश-स्वरूप बुद्धि में नियन्त्रित या लीन करे, बुद्धि को (सब ओर से रोककर) हिरण्यगर्भ में लगावे, और हिरण्यगर्भ को शान्त –निर्विशेष-निष्कल–ब्रह्म में लीन करे।

विशेष—(i) इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि विवेकी साधक पूर्वोक्त क्रम

से स्थूल का सूक्ष्म में लय करते-करते अन्ततः सूक्ष्मतम निर्विशेष एवं समस्त-प्रत्यय-साक्षिभूत मुख्य आत्मा तक पहुँच जाता है। यही समस्त जीवन-यात्रा का अन्तिम गन्तव्य है, यह पहले मन्त्र ६, फिर मन्त्र ११ में यम नचिकेता से कह चुके हैं। अतः स्वरूपभूत मुख्य आत्मा की प्राप्ति हो जाने पर कोई पुरुषार्थ या प्राप्तव्य प्राप्त किये जाने को शेष नहीं रह जाता। इस प्रकार स्वरूप-प्राप्ति—जो स्वरूप के दर्शन या साक्षात्कार से अभिन्न है—ही एकमात्र कृतकृत्य या मुक्त होने का उपाय होने से सर्वथा संसाध्य है। इसी लिये अग्रिम मन्त्र में एतदर्थ ज्ञानी पुरुषों के पास जाने के लिये श्रुति साधक का उद्बोधन करती है।

(ii) **प्राज्ञः**—प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः (प्र + √ज्ञा + क प्रत्यय कर्तरि) प्रज्ञ एव प्राज्ञः (प्रज्ञ + अण् स्वार्थे)। **वाक्**—द्वितीया-एकवचनान्त रूप 'वाचम्' के लिये प्रथमा एकवचन का रूप छान्दस विभक्ति-व्यत्यय से प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द वाक्-सहित समस्त दसों बाह्य इन्द्रियों का उपलक्षण है। **मनसी**—यह छान्दस दैर्घ्य का उदाहरण है। 'मनसि' ऐसा ह्रस्व इकारान्त प्रयोग होना था। **ज्ञाने आत्मनि, महति आत्मनि, शान्ते आत्मनि**—ज्ञानात्मा बुद्धि है, महानात्मा प्रथम शरीरी हिरण्यगर्भ है, एवं शान्त आत्मा सर्व-विशेष-रहित कार्य-कारणादि समस्त विक्रियाओं से शून्य तथा सर्व-प्रत्यय-साक्षी मुख्य आत्मा है। यही ब्रह्म है।

शा० भा०— तत्प्रतिपत्त्युपायमाह—यच्छेन्नियच्छेदुपसंहरेत्प्राज्ञो विवेकी, किम्? वाग्वाचम्। वागत्रोपलक्षणार्था सर्वेषामिन्द्रियाणाम्। क्व? मनसी। मनसीति च्छान्दसं दैर्घ्यम्। तच्च मनो यच्छेज्ज्ञाने प्रकाशस्वरूपे बुद्धौ आत्मनि। बुद्धिर्हि मनआदिकरणान्याप्नोतीत्यात्मा प्रत्यक् तेषाम्। ज्ञानं बुद्धिमात्मनि महति प्रथमजे नियच्छेत्। प्रथमजवत् स्वच्छस्वभावकमात्मनो विज्ञानम् आपादयेदित्यर्थः। तं च महान्तम् आत्मानं यच्छेच्छान्ते सर्वविशेषप्रत्यस्तमितरूपेऽविक्रिये सर्वान्तरे सर्वबुद्धिप्रत्ययसाक्षिणि मुख्य आत्मनि ॥ १३ ॥

पौर्वापर्य०—जो साधना विवेकी साधक के लिये १३वें मन्त्र में यम ने बताई उसका अन्त या पूर्णत्व आत्म-साक्षात्कार, आत्म-दर्शन या आत्म-ज्ञान में ही होता है, और आत्मा के सूक्ष्मतम तत्त्व होने से उसका ज्ञान भी बड़ा ही दुष्कर है, इसी से यम १४वें मन्त्र में आत्म-ज्ञान के मार्ग को क्षुरे की तेज धार की तरह दुर्गम बताते हुये प्राप्त-ज्ञान (कृतकृत्य) श्रेष्ठ पुरुषों की शरण लेने की शिक्षा नचिकेता को, और उसके द्वार से समस्त श्रेयस्काम मानव को देते हुये कहते हैं—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥१४॥

अन्वय—उत्तिष्ठत जाग्रत वरान् प्राप्य निबोधत । कवयः क्षुरस्य निशिता दुरत्यया धारा (इव) तत् पथः दुर्गं वदन्ति ।

अर्थ—उठो, जागो, श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो । तत्त्वज्ञानी लोग छुरे की तेज की गई दुस्तर धार (की तरह) उस (ज्ञान-) मार्ग को दुर्गम बतलाते हैं ।

विशेष—**उत्तिष्ठत**—उठो अर्थात् आत्मज्ञान की ओर उन्मुख होओ । उद्√स्था+लोट् (उ० पु० ब०) । **जाग्रत**—जागो अर्थात् अज्ञान-निद्रा को त्यागकर ज्ञान प्राप्त करने के लिए उद्यत हो जाओ । **वरान्**—श्रेष्ठों अर्थात् श्रेष्ठ आचार्यों को । **प्राप्य**—पाकर । प्र√आप्+क्त्वा—ल्यप् । **निबोधत**—(परमात्मा को) जान लो । नि√बुध्+लोट् (म० पु० ब०) । **कवयः**—क्रान्त द्रष्टा, ज्ञानी या मेधावी जन । **निशिता**—नि+√शो तनूकरणे+क्त+टाप् (तीक्ष्ण) । **दुरत्यया**—दुस्तर, कठिन । **दुर्गम्**—दुर्गम । दुर्√गम्+ड । यह 'पथः' का विशेषण है । यद्यपि 'पथः' पुं० द्वितीया बहुवचनान्त रूप है, अतएव 'तत्' और 'दुर्गम्' के स्थान में 'तान्' और 'दुर्गान्' पद प्रयुक्त होने चाहिए तो भी छान्दसत्वात् लिंग और वचन का व्यत्यय मान कर 'पथः' को 'तत्' और 'दुर्गम्' के साथ अन्वित करना होगा । वस्तुतः 'पथः' के स्थान में 'पन्थानम्' (पुं० द्वि० एक०) प्रयुक्त होना था । उस स्थिति में 'तं पन्थानं दुर्गं वदन्ति कवयः' यह वाक्य बनता जो पाणिनि-व्याकरण के नियम से शुद्ध होता ।

शा०भा०—एवं पुरुष आत्मनि सर्वं प्रविलाप्य नामरूपकर्मत्रयं यन्मिथ्याज्ञानविजृम्भितं क्रियाकारकफललक्षणं स्वात्मयाथात्म्यज्ञानेन मरीच्युदकरज्जुसर्पगगनमलानीव मरीचिरज्जुगगनस्वरूपदर्शनेनैव स्वस्थः प्रशान्तात्मा कृतकृत्यो भवति यतोऽतस्तद्दर्शनार्थम्—अनाद्यविद्याप्रसुप्ता उत्तिष्ठत हे जन्तव आत्मज्ञानाभिमुखा भवत, जाग्रताज्ञाननिद्राया घोररूपायाः सर्वानर्थबीजभूतायाः क्षयं कुरुत । कथम् ! प्राप्योपगम्य वरान् प्रकृष्टानाचार्यांस्तद्विदस्तदुपदिष्टं सर्वान्तरमात्मानमहमस्मीति निबोधतावगच्छत । न ह्युपेक्षितव्यमिति श्रुतिरनुकम्पयाह मातृवत् । अतिसूक्ष्मबुद्धिविषयत्वाज्ज्ञेयस्य । किमिव सूक्ष्मबुद्धिः इत्युच्यते; क्षुरस्य धाराग्रं निशिता तीक्ष्णीकृता

दुरत्यया दुःखेनात्ययो यस्याः सा दुरत्यया। यथा सा पद्भ्यां दुर्गमनीया तथा दुर्गं दुःसम्पाद्यमित्येतत् पथः पन्थानं तत्त्वज्ञानलक्षणं मार्गं कवयो मेधाविनो वदन्ति। ज्ञेयस्यातिसूक्ष्मत्वात्तद्विषयस्य ज्ञानमार्गस्य दुःसम्पाद्यत्वं वदन्तीत्यभिप्रायः ॥ १४ ॥

पौर्वापर्य०—जिस आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये १४वें मन्त्र के द्वारा यम ने नचिकेता एवं उसके द्वार से श्रेयस्काम मानव-मात्र का उद्बोधन किया, संसार-चक्र या जन्ममरण-परम्परा से नित्य मुक्ति का साधन होने से उसी की परम पुरुषार्थता १५वें मन्त्र में यमराज बता रहे है :—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥१५॥

अन्वय—यत् अशब्दम् अस्पर्शम् अरूपम् अव्ययम् अरसं नित्यम् अगन्धवत् अनादि अनन्तं महतः परं तथा ध्रुवं च, तत् निचाय्य मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।

अर्थ—जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध से रहित (अछूता) है, अव्यय अर्थात् अविनाशी तथा नित्य है, अनादि तथा अनन्त है, महत् अर्थात् बुद्धि-तत्त्व से भी पर और ध्रुव अर्थात् कूटस्थ (निश्चल) है, उस आत्म-तत्त्व को जानकर (साधक) मृत्यु के मुख से छूट जाता है।

विशेष—अशब्दम्—अविद्यमानः शब्दः यस्मिन् (बहुव्रीहि०)। इसी प्रकार अस्पर्शम् इत्यादि का भी विग्रह जानना चाहिये। अगन्धवत्—न गन्धवत् (गन्ध+मतुप्) इति, नञ्तत्पु०। निचाय्य—नि+√चिञ्+णिच्। ल्यप्)।

शा०भा०—तत्कथमतिसूक्ष्मत्वं ज्ञेयस्य इत्युच्यते; स्थूला तावदियं मेदिनी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धोपचिता सर्वेन्द्रियविषयभूता तथा शरीरम्। तत्रैकैकगुणापकर्षेण गन्धादीनां सूक्ष्मत्वमहत्त्वविशुद्धत्वनित्यत्वादितारतम्यं दृष्टमबादिषु यावदाकाशमिति ते गन्धादयः सर्व एव स्थूलत्वाद्विकाराः शब्दान्ता यत्र न सन्ति, किमु तस्य सूक्ष्मत्वादिनिरतिशयत्वं वक्तव्यम् इत्येतद्दर्शयति श्रुतिः—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् एतद्व्याख्यातं ब्रह्माव्ययम्—यद्धि शब्दादिमत्तद्व्येतीदं तु अशब्दादिमत्वादव्ययं न व्येति न क्षीयते, अत एव च नित्यम्। यद्धि व्येति तदनित्यमिदं तु न व्येत्यतो नित्यम्। इतश्च

नित्यम् अनाद्यविद्यमान आदि: कारणम् अस्य तदिदमनादि। यद्ध्यादिमत्तत्कार्यत्वाद-नित्यं कारणे प्रलीयते यथा पृथिव्यादि। इदं तु सर्वकारणत्वादकार्यमकार्यत्वान्नित्यम्। न तस्य कारणमस्ति यस्मिन्प्रलीयेत।

तथानन्तम् अविद्यमानोऽन्त: कार्यमस्य तदनन्तम्। यथा कदल्यादे: फलादि-कार्योत्पादनेन अपि अनित्यत्वं दृष्टं न च तथाप्यन्तवत्त्वं ब्रह्मण:, अतोऽपि नित्यम्। महतो महत्तरत्वाद् बुद्ध्याख्यात् परं विलक्षणं नित्यविज्ञप्तिस्वरूपत्वात्सर्वसाक्षि हि सर्व-भूतात्मत्वाद् ब्रह्म। उक्तं हि "एष सर्वेषु भूतेषु" (क० उ० १।३।१२) इत्यादि। ध्रुवं च कूटस्थं नित्यं न पृथिव्यादिवदापेक्षिकं नित्यत्वम्। तदेवंभूतं ब्रह्मात्मानं निचाय्यावगम्य तमात्मानं मृत्युमुखान्मृत्युगोचरादविद्याकामकर्मलक्षणात्प्रमुच्यते विमुच्यते ॥ १५ ॥

पौर्वापर्य०—यम प्रस्तुत आत्म-विज्ञान की प्रशंसा अगले मन्त्र में कर रहे हैं, ताकि उसकी ओर सभी का आकर्षण हो—

> नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्।
> उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥१६॥

अन्वय—मेधावी मृत्युप्रोक्तं सनातनम् नाचिकेतम् उपाख्यानं उक्त्वा श्रुत्वा च ब्रह्मलोके महीयते।

अर्थ—नचिकेता द्वारा प्राप्त तथा मृत्युदेव यम के द्वारा कहे हुये इस सनातन उपाख्यान को कह एवं सुन कर बुद्धिमान् पुरुष ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है।

विशेष—**नाचिकेतम्**—नचिकेतस् + अण्। **सनातनम्**—सना + ट्यु (तन)। **मेधावी**—मेधा + विनि: ('अस्मायामेधास्रजो विनि:' सूत्र से)। **महीयते**—√मही (कण्ड्वादिगणी) + लट् यक् प्रत्यय।

शा०भा०—**प्रस्तुतविज्ञानस्तुत्यर्थमाह श्रुति:**—

नाचिकेतं नचिकेतसा प्राप्तं नाचिकेतं मृत्युना प्रोक्तं मृत्युप्रोक्तमिदमाख्यान-मुपाख्यानं वल्लीत्रयलक्षणं सनातनं चिरन्तनं वैदिकत्वादुक्त्वा ब्राह्मणेभ्य: श्रुत्वाचा-र्येभ्यो मेधावी, ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकस्तस्मिन्महीयत आत्मभूत उपास्यो भवती-त्यर्थ: ॥ १६ ॥

> य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।
> प्रयत: श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते
> तदानन्त्याय कल्पत इति ॥१७॥

अन्वय—यः प्रयतः ब्रह्मसंसदि श्राद्धकाले वा इमं परमं गुह्यं श्रावयेत्, तत् आनन्त्याय कल्पते। तत् आनन्त्याय कल्पते इति।

अर्थ—जो व्यक्ति पवित्र होकर (ब्रह्मवेत्ता) ब्राह्मणों की सभा में अथवा श्राद्ध के समय इस अत्यन्त गोप्य आख्यान को सुनाता है, वह (सुनाना) अनन्त फल के लिए समर्थ होता है, अथवा वह (श्राद्ध) अनन्त फल के लिए समर्थ होता है ॥१७॥

विशेष—प्रयतः—प्र + √यम् + क्त। ब्रह्मसंसदि—ब्रह्मणः संसद् तस्याम् (ब्रह्म-विचारकों की सभा में)। गुह्यम्—√गुह् + क्यप् (रहस्यमय आख्यान को)। श्रावयेत्—√श्रु + णिच् + विधिलिङ् (प्र० पु० एक०)। आनन्त्याय—अनन्तस्य भावः आनन्त्यम् (अनन्त + ष्यञ्) तस्मै। 'तदानन्त्याय कल्पते' यह वाक्य अध्याय की समाप्ति को सूचित करने के लिए दो बार लिखा गया है।

शा० भा०—यः कश्चिदिमं ग्रन्थं परमं प्रकृष्टं गुह्यं गोप्यं श्रावयेद् ग्रन्थतोऽर्थतश्च ब्राह्मणानां संसदि ब्रह्मसंसदि प्रयतः शुचिर्भूत्वा श्राद्धकाले वा श्रावयेद् भुञ्जानानां तच्छ्राद्धमस्यानन्त्यायानन्तफलाय कल्पते संपद्यते। द्विर्वचनम् अध्यायपरिसमाप्त्यर्थम् ॥ १७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्य
श्रीशङ्करभगवतः कृतौ कठोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये
तृतीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ ३ ॥

●

॥ इति कठोपनिषदि प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥

परिशिष्ट • विशिष्ट पदों पर टिप्पणी

आशा-प्रतीक्षा

आशा च प्रतीक्षा चेति (इतरेतर द्वन्द्व०)। जिस इष्ट पदार्थ की प्राप्ति का कोई निश्चित ज्ञान न हो परन्तु उसे प्राप्त करने की इच्छा अवश्य हो, तद्विषयिणी कामना 'आशा' कही जाती है। जिस इष्ट पदार्थ की प्राप्ति निश्चित हो, तद्विषयिणी कामना 'प्रतीक्षा' कही जाती है। अँग्रेजी भाषा के Hope तथा Expectation शब्द क्रमशः इनके पर्याय कहे जा सकते हैं। अनुकूल परिस्थितियों में जो पदोन्नति की 'आशा' की जाती है, वह प्रतीक्षित वस्तु नहीं है। किन्तु वर्तमान वेतन-क्रम में वार्षिक वृद्धि निश्चित होने से प्रतीक्षित वस्तु है, उसकी प्रतीक्षा सम्बद्ध व्यक्ति वर्ष भर करता रहता है, जब तक कि नये वर्ष के प्रारम्भ में उसकी प्राप्ति नहीं हो जाती।

इष्टापूर्त

इष्टम्—यज्+क्त भावे। वचिस्वपियजादीनां किति ॥६।१।१५। से कित् क्त प्रत्यय जुड़ने पर 'यज्' के 'य' को सम्प्रसारण अर्थात् 'इ' आदेश हो गया है। **पूर्तम्**—(√पृ या √पॄ+क्त)। यहाँ 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' ॥७।१।१०२॥ से ओष्ठ्यवर्ण-पूर्वक ऋकारान्त पृ या पॄ को उ अर्थात् उकार आदेश होने पर पु हुआ जो रपर होने पर पूर् बन गया। अब रकारान्त धातु होने से 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः ॥८।८।४२॥ से त को न होना था, परन्तु 'न ध्याख्यापॄमूर्च्छिमदाम्' ॥८।२।५७॥ से उसका बाध होने पर पूर्+त='पूर्त' बना। **इष्टापूर्त**—इष्टं च पूर्तं चेति इष्टापूर्त (इतरेतर द्वन्द्व),'इष्ट' का 'इष्टा' छान्दस दैर्घ्य का उदाहरण प्रस्तुत करता है। 'अथ ऋतुकर्मेष्टं पूर्तं खातादि कर्म यत्' (अमर० २।७।२८) के अनुसार ऋतुकर्म अर्थात् यज्ञयागादि कर्म को 'इष्ट' तथा खात अर्थात् पोखरा, तालाब इत्यादि खुदवाने एवं वृक्षारोपणादि को 'पूर्त' कहा जाता है। एक देवों के प्रति स्वकर्तव्य-पालन का साधन है तो दूसरा मनुष्यों तथा तदितर भूतों के प्रति। धर्म-शास्त्रों में दोनों के लक्षण क्रमशः इस प्रकार दिये गये हैं :—"एकाग्निकर्म हवनं त्रेतायां यच्च हूयते। अन्तर्वेद्यां च यद् दानमिष्टं तदभिधीयते"॥ "वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्न-प्रदानमारामाः पूर्तमर्थ्याः प्रचक्षते॥" इससे स्पष्ट है कि √इष् इच्छायाम् से क्त प्रत्यय जोड़ कर 'इष्ट' को निष्पन्न करना प्रस्तुत प्रकरण में सर्वथा ही असत् है। 'इष्ट' √इष् से बनता है अभिलषित के अर्थ में।

त्रिणाचिकेत

त्रि+नाचिकेतः। पिछले मन्त्र में नचिकता को दिये गये अतिरिक्त वर के अनुसार इस मन्त्र में यम ने अग्नि को ठीक ही 'नाचिकेत' कहा। 'त्रि' के र के कारण न को ण होने पर 'त्रिणाचिकेत' शब्द बना जिसका अर्थ हुआ नाचिकेत अग्नि का तीन बार चयन करने वाला अथवा उसका ज्ञान, चिन्तन एवं अनुष्ठान करने वाला भगवान् भाष्यकार शङ्कराचार्य ने कठ०१।१।१७ में स्थित इस पद पर भाष्य करते हुए इस प्रकार लिखा है :—त्रिः त्रिकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चित तो ये नस त्रिणाचिकेतस्तद्विज्ञानस्तदध्ययनस्तदनुष्ठान वान्वा"। ब्रह्मा से उत्पन्न, प्रथम शरीरी इस अग्नि देवता का इस प्रकार का ज्ञाता एवं आराधक—उन्हें आहुतियों से सन्तुष्ट करने वाला—पुरुष स्वर्ग लोक मे जाकर चिरकाल के लिए जन्म-जरा-मृत्यु से मुक्त होकर स्वर्ग-सुखों का उपभोग करता है। पुण्य क्षीण हो जाने पर ही वहाँ से लौटकर पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ता है, उसके पूर्व नहीं।

सृङ्का

सृङ्का—शङ्कराचार्य ने इसके दो अर्थ दिये हैं :—

(१) शब्दवती रत्नमयी माला (२) कर्म की अकुत्सित (प्रशस्त) गति। द्वितीय वल्ली के तृतीय मन्त्र में पुनः प्रयुक्त इस शब्द का वहाँ 'सृति कुत्सितां मूढजनप्रवृत्तां' अर्थ किया है। सृति का अर्थ सरणि या मार्ग है जो 'गति' का ही वाचक है। इस प्रकार द्वितीय तथा तृतीय अर्थ एक ही है। भेद केवल तदर्थ प्रयुक्त विशेषण का है। द्वितीय अर्थ मे कर्म-मार्ग को 'अकुत्सित' कहा है, जबकि तृतीय में उसे 'कुत्सित' कहा है 'रत्नमयी माला' यह जो प्रथम अर्थ है, वह भी शब्दतः ही भिन्न है, तात्पर्यतः नहीं। वैदिक कर्म का मार्ग—यज्ञों का मार्ग—निस्सन्देह विभूतियों और समृद्धियो का मार्ग है। देवों को उनका देय भाग देकर तथा उनको प्रसन्न करके ऐश्वर्य-प्राय अनन्त स्वर्गलोक की प्राप्ति की जाती है। इसी से तो पूर्ववर्ती मन्त्र १।१।१४ में 'अग्नि' को 'अनन्तलोकाप्ति' कहा है यम ने। यह तो स्वर्ग लोक में प्राप्तव्य विभूतियों एवं ऐश्वर्यों की बात हुई, यज्ञ करने वाला यजमान इस लोक में भी समस्त अभीष्ट वैभव-सुख प्राप्त करता है। इसी कारण से यह अकुत्सित अर्थात् प्रशंसनीय मार्ग है। द्वितीय स्थल अर्थात् १।२।३ मे 'सृङ्का' को कुत्सित बताने का दूसरा रहस्य है। वस्तुतः तो सांसारिक सुख-वैभव तथा अभ्युदय के इच्छुक लौकिक व्यक्ति के लिये सर्वोत्तम मार्ग वैदिक यज्ञों का ही है। इनसे यहाँ उत्तम सुख भोग कर यजमान मृत्यु के अनन्तर स्वर्ग-सुख भोगता है, जैसा कि आगे के १७वें मन्त्र के 'त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू' तथा उसके बाद के १८वें मन्त्र के 'शोकाति-

णो मोदते स्वर्गलोके' पादों में यम ने स्पष्ट कहा है। ऐसी स्थिति में भाष्यकार का उसे 'अकुत्सित' या प्रशंसनीय मार्ग बताना ठीक ही है। १।२।३ मन्त्र में तो यम ने नचिकेता के सर्व-विषय-त्याग की प्रशंसा करते हुए कहा है कि 'नचिकेता'! तुम सचमुच बड़े विवेकी हो जो सांसारिक विषयों की असारता को समझते हुए उनके चक्कर मे नहीं पड़े और धन-प्राय—विभूति-बहुल—उस सृङ्का (मार्ग) को तुमने मेरे देने पर भी नही स्वीकार किया जिसमे प्रायः सभी प्राकृत या सामान्य जन आपादमस्तक डूबे रहते हैं। इस प्रकार लोक-विरक्त नचिकेता जैसे आत्मज्ञानार्थी विवेकी के प्रति तो कर्म-मार्ग त्याज्य ही ठहरता है। इसी दृष्टि से भाष्यकार ने उक्त स्थल में इसे कुत्सित मार्ग कहा है जो सर्वथा उचित ही है।

विषय को न समझकर मनमानी व्याख्या करने वालों ने इसे 'बुद्धि में रहने वाली, ज्ञानाग्नि के साथ रहने वाली, तत्त्वज्ञान-परम्परा को अबाधित गति से स्थिर रखने वाली ज्ञान-माला' बताया है जो सर्वथा उपहासास्पद एवं उपेक्षणीय है।

श्वोभावाः

श्वः भावः (सत्ता) येषां ते (बहुव्रीहि०)। 'इसका शब्दार्थ हुआ क्षण-स्थायी, क्षणिक। भाष्यकार के अनुसार इसका अर्थ है 'आने वाले कल को भी सन्दिग्ध सत्ता वाले'। अर्थ तो यही ज्यादा युक्त है, क्योंकि पूर्व अर्थ में कल की सत्ता निश्चित मान ली गई जो सम्भावित सत्य तो है परन्तु निश्चित नहीं। हो सकता है, वे कल भी न रहें, आज ही, अभी ही समाप्त हो जायँ। यह सातिशय क्षणिकत्व भाष्यकार के ही अर्थ में झलकता है। परन्तु पूर्व अर्थ अधिक शाब्दिक है, शब्दानुसारी है, जैसा कि समास-विग्रह में दिखाया गया है।

साम्पराय

साम्परायः (सम्+परा+√इण् गतौ+अच्) एव साम्परायः (सम्पराय+अण् स्वार्थे)। 'सम्पराय' का अर्थ है परलोक—सम् सम्यक् परा दूरम् ईयते गम्यते प्राप्यते इति सम्परायः परलोकः। सम्पराय एव साम्परायः। इस प्रकार यहाँ साम्पराय शब्द का भी अर्थ भाष्य के अनुसार परलोक ही है। आगे की द्वितीय वल्ली के छठे मन्त्र मे भी 'सम्पराय' शब्द आया है। वहाँ भाष्यकार ने इसका अर्थ परलोक का (शास्त्रीय) साधन-विशेष कहा है—'सम्पर ईयत इति सम्परायः परलोकस्तत्प्राप्तिप्रयोजनः साधनविशेषः शास्त्रीयः साम्परायः।' यह शास्त्रीय साधन-विशेष आत्मज्ञान या आत्म-विद्या है।

श्रेयस्-प्रेयस्

श्रेय—प्रशस्य+ईयसुन् । ईयसुन् तथा इष्ठन् लगने पर 'प्रशस्यस्य श्र' । ५।३।६० सूत्र से प्रशस्य को 'श्र' आदेश हो जाता है । इस प्रकार श्र+ईयस् = श्रेयस शब्द बनता है । **प्रेय**—प्रिय+ईयसुन् । ईयसुन् तथा इष्ठन् प्रत्यय लगने पर 'प्रिय' को 'प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणा प्रस्थस्फवर्बंहिगर्वर्षि-त्रब्द्राघिवृन्दा' । ६।४।१५७ सूत्र से 'प्र' आदेश होता है । इस प्रकार प्र+ईयस् = प्रेयस् शब्द बनता है । सरचना की दृष्टि से श्रेयम् तथा प्रेयस्, दोनो ही शब्द विशेषण होने पर भी सज्ञा की तरह प्रयुक्त होते है । यहाँ क्रमश· विद्या कल्याण-मार्ग तथा अविद्या प्रिय किन्तु अकल्याणकारी मार्ग के अर्थ मे ये सज्ञावत् ही प्रयुक्त हुये हैं ।

योगक्षेम

योगश्च क्षेमश्चेति योगक्षेमम् (समाहार द्वन्द्व), तस्मात् । यहाँ 'हेतौ' इस सूत्र से कारण अर्थ मे पञ्चमी हुई है । 'योग' शब्द 'युजिर्' योगे (रुधादि०) से घञ् प्रत्यय लगकर बना है । इसका शाब्दिक अर्थ है किसी वस्तु या पदार्थ का योग या सयोग । फिर इसी से इसका विकसित अर्थ हुआ 'अप्राप्त की प्राप्ति' । इसी प्रकार 'क्षेम' का शब्दार्थ होता है कल्याण, कुशल । इसी से विकसित होकर इसका पारिभाषिक अर्थ हो गया 'प्राप्त वस्तु की रक्षा' । वस्तुत सासारिक व्यक्ति के लिये श्रम तथा कष्ट से प्राप्त या अर्जित वस्तु के सुरक्षित रहने से बढकर और कोई क्षेम होता भी नही । सक्षेप मे योग और क्षेम के अन्तर्गत सारी साँसारिकता का समावेश है । सामान्य व्यक्ति का सारा जीवन अभीष्ट वस्तुओ के अर्जन या सग्रह और उसके सरक्षण मे ही बीतता है ।

विषूची

विषु+√अञ्च गतौ+क्विन+ङीप् (स्त्रियाम) । 'विषु' का अर्थ है नाना या अनेक । इस प्रकार इस शब्द का अर्थ है 'नाना या विभिन्न दिशाओ मे जाने वाली' । यह विशेषण पद है और विद्या तथा अविद्या के लिये प्रयुक्त हुआ है । वस्तुत द्विवचन मे 'विषूच्यौ' यह द्विवचनान्त प्रयोग ('विपरीते' की तरह) होना चाहिये था, इसके स्थान मे एकवचनान्त 'विषूची' का प्रयोग छान्दस या वैदिक कहा जायगा । अपेक्षानुसार इमका 'विषूच्यौ' यह द्विवचनान्त विपरिणाम कर लेना चाहिये, जैसा शङ्कर ने अपने भाष्य मे किया है—"विषूची विषूच्यौ नानागती भिन्नफले ससार मोक्ष हेतुत्वेनेत्येतत् ।" शाङ्करभाष्य से यह तथ्य भी सुस्पष्ट हो गया कि विद्या या ज्ञान-मार्ग तथा अविद्या या अज्ञान-मार्ग विभिन्न दिशाओ मे जाने वाले मार्ग हैं । एक का फल है मोक्ष, तथा दूसरे का ससरण या आवागमन अर्थात्

बन्ध। मोक्ष और बन्ध—इन विपरीत फलों के कारण बनने से ही ये मार्ग या साधन 'विषूची' (अर्थात् नानागतिक) कहे गये है।

अध्यात्मयोग

यह शब्द कठ० १।२।१२ मन्त्र में आया है। यह मन्त्र आत्म-प्राप्ति के साधन बताने की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अध्यात्म-योग से आत्म-ज्ञान और उससे आत्म-प्राप्ति होती है, यह सुविदित है। किन्तु अध्यात्म-योग हो कैसे, यह बड़ा विषम प्रश्न है। इसी को संक्षेप किन्तु स्पष्ट रूप से यम ने इस मन्त्र में बताया है। यह तो स्पष्ट ही है कि आत्मा के स्वरूप पर चित्त को एकाग्र या समाहित करने के पूर्व उस स्वरूप का ज्ञान होना आवश्यक है। इसी के लिए 'श्रुत्वा' कहा अर्थात् किसी अभेद-दर्शी ब्रह्मनिष्ठ आचार्य से पहले 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इत्यादि में प्रतिपादित विधि से उसके वास्तविक रूप को सुने और समझे (संपरिगृह्य) 'मनन' करे, ताकि शरीर-इन्द्रियादि के धर्मों से युक्त जो उसका रूप प्रतीत होता है, उससे उसको 'प्रवृह्य' अर्थात् अलग करके जो उसका धर्मरहित, सूक्ष्म एवं शुद्ध आनन्द-रूप है, उसे साधक जान सके। फिर आत्मा के इसी केवली या शुद्ध रूप पर अहर्निश चित्त को लगाये—आत्मयोग करे—जिससे उसका साक्षात्कारात्मक ज्ञान अर्थात् अपरोक्षानुभूति हो सके।

वस्तुतः तो जीवात्मा प्राणी के हृदय में ही निवास करता है। परमात्मा भी सर्वव्यापक होने के कारण प्रत्येक प्राणी के हृदय में निवास करता है। किन्तु सांसारिक विषयों में लिप्त रहने के कारण जीवात्मा परमात्मा को पहचान नहीं पाता। जीवात्मा अपनी विषयासक्त स्थूल बुद्धि से परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता। सूक्ष्मदर्शी जीवात्मा अपनी तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धि से परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है। सांसारिक विषयों का परित्याग करके अध्यात्म—योग जीव के आत्मा अर्थात् शुद्ध स्वरूप पर चित्त या बुद्धि का समाधान या उसकी एकाग्रता—करने से वह तीक्ष्ण और सूक्ष्म हो सकती है, और इसी बुद्धि से जीव के वास्तविक अणुतम रूप का उपर्युक्त श्रवण-मनन-निदिध्यासन हो सकता है जिसके फलस्वरूप आत्मसाक्षात्कार एवं कालान्तर में अभ्यास को दृढ रखने से ब्रह्म के साथ उसके ऐक्य का अनुभव सम्भव है। यह अनुभव ही उसकी प्राप्ति है क्योंकि जीव का अपना स्वरूप तो सदा से ही प्राप्त है, उसे कोई क्या प्राप्त करेगा, केवल उसे माया-वश, अज्ञान वश—भूला हुआ है, वही भूल समाप्त करके स्वरूपतः उसे जान ले, काम बन जाय, सारे अनर्थों से छुट्टी मिल जाय, जैसा कि पिछले मन्त्र के 'मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' इस चतुर्थ चरण में यम ने स्पष्ट कर दिया है। आगे भी

२.३.१७ में आत्मा को शरीरादि से पृथक् करने की बात यम ने इस प्रकार दोहराई है :—

"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति॥" इससे साधना में इस पृथक्करण रूप सोपान का अत्यधिक महत्त्व स्वतः सुस्पष्ट है। फिर यह मन्त्र सिद्धान्त-प्रतिपादक अन्तिम मन्त्र भी है कठोपनिषद् का। इसका तात्पर्य यह है कि अध्यात्म-विद्या के परम गुरु यमराज को यह बात सर्वथा अभिप्रेत है कि आत्मा के श्रवण की पूर्ण सार्थकता तभी है जब साधक तदनुरूप उस स्वरूप को शरीरेन्द्रियादि-संघात से अलग करे क्योंकि अनित्यों से अलग करके ही उसकी नित्यता का अनुभव करके साधक मृत्यु के भय से मुक्त हो सकेगा नान्यथा।

ऋत

कर्म-फल। इसकी सत्यता या अनिवार्यता के कारण ही यह शब्द नैतिक व्यवस्था तथा सत्य का बोधक हो गया। सुकृतस्य सुन्दरं शोभन वा कृतम् सुकृतम् (प्रादितत्पु०) पुण्यमित्यर्थः, तस्य। 'सुकृत' दुष्कृत का भी उपलक्षण होने से प्रस्तुत स्थल में कर्म-मात्र का बोधक है। इससे अन्वित 'ऋतम्'—सुकृतस्य ऋम्—का अर्थ हुआ स्वकृत कर्मों का शुभाशुभ फल। इसकी सत्यता या अनिवार्यता के कारण ही 'ऋत' शब्द अनिवार्य नैतिक व्यवस्था, सत्य इत्यादि का बोधक हो गया।

पञ्चाग्नि

पञ्च अग्नयः (गार्हपत्यदक्षिणाहवनीयसभ्यावसथाः, अथवा द्युलोकपर्जन्य-पृथ्वीपुरुषयोषाः–बृहदा०) उपास्या येषां ते (बहुव्रीहि०)। यह शब्द कर्ममार्गी गृहस्थों के लिये प्रयुक्त है। इन्हीं के लिये 'त्रिणाचिकेताः' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। इसकी विशेष व्याख्या १-१-१७ मन्त्र के विशेष में द्रष्टव्य है।

ज्ञानात्मा, महानात्मा तथा शान्तात्मा

टिप्पणी १-३-१३ मन्त्र की व्याख्या में ही द्रष्टव्य है।

स्वर्ग्याग्नि या नाचिकेताग्नि

टिप्पणी पृष्ठ १६ एवं १७ (१-१-१४) पर द्रष्टव्य है।